कला के सरोकार

संपादक

रामानंद राठी

रचना प्रकाशन
जयपुर-1

आज समाज पर इतना अन्याय का बोझ रहते हुए, दारिद्र्य का भार रहते हुए, उसकी उपेक्षा कर कला अपना मार्ग बहुत दूर तक तै नहीं कर सकती। उसको बीच में रुक जाना होगा—वह ओछी और बौनी हो जायेगी, वह कमजोर और विक्षेपयुक्त (Perverse) सत्वहीन और घोर आत्मकेंद्री होकर आत्महत्या कर लेगी।

—गजानन माधव मुक्तिबोध

क्रम

●

चित्रकला

संगीत

भूमिका

□

कला के क्षेत्र में सौंदर्यवादी रूमानी प्रवृत्तियां हमारे यहा फिर एक बार अपनी सार्थकता का भ्रम पैदा करने मे जुटी हुई हैं। राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित भाषण-मालाओं, प्रदर्शनियो, पत्रिकाओ व सरकारी पुरस्कारों के जरिए औसत आदमी की जिन्दगी, उसके उपेक्षित दुःखो-सुखों से जुड़ी कला को नारेबाजी व श्रेष्ठ कला-मूल्यो से रहित दूसरे दर्जे की कोई चीज घोषित किया जा रहा है। एक तरफ यह सब हो रहा है और दूसरी ओर राजनीति मे भ्रष्टाचार, सम्प्रदायवाद और गुण्डागर्दी का अन्धा उफान गरीब से उसकी आखिरी पूंजी-उसकी सांस–भी छीन लेना चाहता है।

जीने के लिए पल-पल जद्दोजहद करते, हांफते टूटते इस गरीब का खयाल ही इस संकलन में सर्वोपरि रहा है, जिसे कमलेश्वर अपने लेख मे "मामूली आदमी" कहते है। इस आदमी का बहुसंख्य गांवो मे बसा है जहाँ की कला परम्पराएँ आज की दारुण स्थितियों मे पड़ कर संदर्भरहित और बेमानी हो गई है। जड़ें छीलकर खाने को बाध्य, भूख-प्यास से अकुलाते लोगों के बीच लोक कला की बात करना अश्लील ही लगता है। लम्बा संवैधानिक निर्वासन भोगकर लुटे-पिटे उनके शरीर अब काठ हो गए हैं; उनके इर्द-गिर्द लोक है पर दिलो मे उस छिने हुए, पराए 'लोक' का अहसास नही!

इस संकट-बिन्दु पर आकर लोक-कला महज 'प्रिजर्वेशन' की सामग्री बन गई है तो कोई आश्चर्य नही—अपनी हर जीवित धड़कन मे दूर और लाचार! कन्हैयालाल नन्दन के लेख मे निरन्तर लुप्त होते लोक-नाट्य की इसी पीडा को हम जगह-जगह उनके व्यक्तिगत अनुभवो के स्तर पर सुलगता पाते हैं।

यथार्थविमुख कलावादी समीक्षक कला की महत्ता को प्राय: ही प्रतीत के अलौकिक सम्मोहन से —उसके अप्राप्य ईश्वरीय मिथ से—जोड़ देते हैं। कला को परिभाषाओं में बांधना हालांकि प्रकृति की स्वत:स्फूर्त, सम्पूर्ण लय को फीतों में बांधने जैसा निरर्थक प्रयास होगा; लेकिन किसी भी प्राकृतिक अथवा मानवी क्रिया को अराजकता की सीमा तक दुर्बोध या ईश्वरीय नहीं बनने दिया जा सकता—इतिहास का कितना ही प्रभावपूर्ण प्रशंसापत्र लेकर यह हमारे पास क्यों न आयी हो। कला की बात करते हुए उस समय के औसत मनुष्य को हमें केन्द्र में रखना ही होगा। वही है जो हमारी बात सुनेगा या फिर अपने ही सहज प्रेरणों से स्वयं अपने संदर्भों में कला की अर्थवत्ता ढूंढेगा। हर कलाकृति को जांचने-परखने के लिए हम उसके हाथों में तत्सम्बन्धित समीक्षा नहीं थमा सकते, उसी तरह जैसे समुद्र के किनारे खड़े किसी व्यक्ति को समुद्र के मोहक विस्तार और लहरों के मर्मर स्वरों के बारे में "बताना" निरर्थक होगा।

इस पुस्तक में संकलित लेखों व समीक्षाओं का अर्थ मनुष्य में कला के प्रति एक न्याय संगत बोध पैदा करना है, ताकि वह अपने लिए कला का पारखी खुद बन सके—अपनी भयावह उदासीनता, अकिंचनता व छिछोरे दम्भ से मुक्त होकर सहज आत्मीयता का भाव लिए वह कलाकृति के पास जा सके। यहां से फिर कला की भूमिका शुरू होती है मनुष्य में उसके समय और परिवेश के प्रति जीवंत विवेक जगाने की बूझ!

वस्तुत: यह भूमिका किसी एक ही दिशा में न बहकर रिवर्सीबल (Reversible) होती है। लेव तालस्तॉय सृजक के सन्दर्भ में जिसे ऑडियेंस की आत्मा को "महानुभूतिपूर्ण संवेदना" के साथ स्पर्श करने की क्षमता कहते हैं, वही क्षमता फिर उस आम ऑडियेंस के संदर्भ में, अर्न्स्ट फिशर व प्लेखानोव के लिए जड़ आर्थिक सम्बन्धों से परे अपने परिवेश को समझने की चाह बन जाती है। कला के जरिए सृजक और ऑडियेंस के बीच का यह सहज वाक्-संवाद कला का महत्वपूर्ण तत्व है। खुद को दूसरों तक पहुँचाने व बाहरी कुछ में विसरित होने की अनन्त भूख ही कलाकार को उसके बचकाने ग्रह की गर्द से निकालकर उसे विशाल सामाजिक संरचना—उसके चमत्कृत कर देने वाले बहुविध यथार्थ के सामने ला खड़ा करती है। यहाँ आकर यह भूख फिर उसका हाथ छोड़ देती है और तब वह अपनी रचनात्मक क्षमताओं के अनुसार इस यथार्थ को अपनी कला में रेखांकित करता है।

कला में यथार्थ का मतलब उसकी नग्न, यथातथ्य प्रस्तुति नही है। मानवता के बेहतर भविष्य और उसके मांसल सपनों का जिक्र भी यहां अनिवार्य है, ताकि यथार्थ को उसकी संपूर्ण बहुआयामी अस्मिता के साथ कला मे पाया जा सके। यथातथ्य सामाजिक सच्चाइयों से भी किंतु एक जेनुइन कलाकर्मी विच्छिन्न न हो जाये; अन्यथा इस समस्वरता (Harmony) टूटते ही, विवेकहीन रूमानी आवेग उसे दबोच लेंगे और उसके हाथों मे बच जायेगी गाशियर की लुभावनी किंतु निरंकुश शाश्वतता''''जो कही नही है।

इस अगोचर शाश्वतता को प्राय: संगीत के भावुक दरवाजे से कला के भीतर ठेला जाता है। संगीत में किसी "घटना" या एक छोटे समयांतराल में निरूपित मनोभाव की विशिष्ट प्रवृत्ति को नही बजाया जा सकता, लेकिन यत्र होते मानव की सुप्त संवेदनाओं को संगीत के स्वर अधिक सफलतापूर्वक जगा सकते है। सागीतिक स्वर एक साथ, एक विराट मानव-समूह को, एक ही समय मे भावविह्वलता के श्रग पर ले जा सकते है—जहाँ पहुँचकर मानव हवा, समुद्र और दूसरे मानवो के प्रति अधिकतम भावावेग के साथ "महसूसता" है। सगीत की इसी विलक्षण क्षमता को लक्ष्य कर शायद धर्म-प्रचार में इसका चमत्कारिक मास मीडिया के रूप मे इस्तेमाल किया जाता रहा है। किसी अन्यायपूर्ण घटना को संगीत मे नही बजाया जा सकता किंतु उस घटना को लगभग उसी आग और हिंसा के साथ महसूसने का माद्दा सगीत देता है—और यही इसकी मूर्त मानवीय सार्थकता है। इस आत्म-शक्ति के खोते ही कोई खास स्वर-क्रम आज नहीं तो कल स्वत: अर्थहीन होकर मर जाता है।

पुस्तक मे संकलित कला की स्वतन्त्रता-विषयक लेख ('पहल' से साभार) मे खगेन्द्र ठाकुर ने, "कलाकार और समाज" मे अंद्रेज मोसेका ने, डा. रमेश कुंतल मेघ ने इतिहास के आलोक मे, प्रयाग शुक्ल व विनोद भारद्वाज ने चित्रकला के जरिए, डा. देवेश ठाकुर ने आधुनिकता के कोण से एव जयदेव तनेजा, भरण शर्मा और मुकुल ने आडबरहीन भारतीय नाट्य-परंपरा के व्यापक जनाधार को दृष्टिगत रखते हुए कला के इन्ही व बहुत से दूसरे प्रश्नो पर अपने गभीर विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं। सरसरी तौर से देखने पर ये प्रश्न जितने आसान जान पडते है, अपने भीतर के धुंधले आवेग और बेचैनी में वस्तुत: ये उतने ही जटिल है।

और अंत मे''''किताब के रूप मे संकलित इन खुदमुख्तार लेखो पर एक सीमा के बाद अतिरिक्त संपादकीय मीमांसा निरर्थक-सी लगने लगती है, जो शायद पाठक के

भीतर भी खोज पैदा करे ।""किसी भीड़-भरे शहर में अपनी पसंद का एकान्त खोज निकालने में तो हम सहर्ष दूसरे किसी व्यक्ति का सहारा ले सकते हैं, पर उस एकान्त में पहुँचकर भी उस व्यक्ति के साथ रहने की अनिवार्यता, यह शायद उस सारी खोज को ही निरर्थक कर दे। जहां तक सम्भव हुआ है सम्पादकीय टीका के बाद भी पुस्तक में संकलित लेखों के अपने अलग 'सम्प्रेषणीय निजत्व" (पाठक के एकान्त) को मैंने कहीं नहीं खरोंचा है।

—रामानन्द राठी

नवम्बर, 1985
जयपुर

समाज, कला और कलाकार

कलाकार और समाज

●

अंद्रेज ओसेका

कोई भी व्यक्ति जिसने सृजन प्रक्रिया का—उस प्रक्रिया का जिससे कला अस्तित्व में आती है—गहराई से अध्ययन किया है, फ्रॉम[1] की कला—परिभाषा के विरोध में तत्काल ही अनेक तर्क प्रस्तुत कर सकता है। अत्यर्य स्थितियों मे तो ये तर्क थियो वान दोइसबर्ग[2] के इस कथन की ही पुनरावृत्ति हो जायेंगे कि महज अंतःप्रेरणा से कभी भी शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य रखने वाली कला की रचना संभव नही हुई। अंतःप्रेरणा से सृजित कला, जिसका बुद्धि और रूपगत आग्रहों से कोई लेना-देना नहीं है, पक्षियों के संगीत का-सा आनंद तो दे सकती है, लेकिन वह न तो सांस्कृतिक चक्र मे स्थायी प्रवेश पा सकती है और न ही रूप की उस समझ को पुष्ट कर सकती है जो सामूहिक प्रयासों द्वारा परिपूर्ण हुई है।

स्वतःस्फूर्त व्यक्ति के अलावा कलाकार की भिन्न परिभाषा भी संभव है, जिसके अनुसार कलाकार हम उस व्यक्ति को कहेंगे जो कलारूप के भीतर ही सोचता-महसूसता है। दूसरे शब्दों में कलाकार—एक स्वत.स्फूर्त व्यक्ति—के लिए अंत प्रेरणा एक स्थायी और अनिवार्य दुविधा है; (कवि) पेट्राक की तरह, जो भरी रात मे नेपल्स मे भटकते हुए यह नहीं जान पाता था कि वह यहां सोनेट लिखने के लिए उपयुक्त भाव की

1. फ्रॉम (एरिक)—पश्चिम जर्मनी का समाजचिंतक व मनोवैज्ञानिक जो हर सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या के बीज तत्संबंधी आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के बजाय मनुष्य के मस्तिष्क में खोजता है। स.

2. थियो वान दोइसबर्ग—अवांगार्द कला-आदोलन का प्रवक्ता डच चित्रकार एवं कवि।

तलाश में भटक रहा है अथवा उसे एक उपयुक्त काव्य रूप की तलाश है।

सृजन के क्षणों मे कलाकार, चाहे अनजाने हो सही, एक अनिवार्यता के तहत पहले से स्थापित कला रूपों की समीक्षा करता है। इस प्रक्रिया में वह अप्रचलित रूपो को, वे चाहे फिर अंतःप्रेरणावश ही उसके दिमाग में आये हों, नकारता चलता है। एक सिद्धहस्त प्रौढ़ कलाकार, एक नौसिखिये से इसी बात में भिन्न होता है कि वह भाव—ज्वारो, स्वय स्फूर्त उद्वेगो, जवानी के फितूर अथवा बेबात की गभीरता को अपनी परिपक्व समझ द्वारा दरकिनार कर उपयुक्त कला रूप की तलाश करता है, जो वस्तुत. उसके व्यक्तित्व तथा मानवता के चरित्र को उद्घाटित कर सके। क्योंकि आखिर कला रूप ही, और यह रूप खूबसूरत भी हो सकता है—'समय की आत्मा' का निर्वैयक्तिक खाका हमारे सामने उजागर करता है।

हम जानते हैं कि कला मे 'व्यक्तित्व को उजागर करने' की जरुरत पर प्राय: ही प्रश्नचिन्ह लगाये जाते रहे हैं। संस्कृति के एक समकालीन सिद्धातवेत्ता ने तो अलकार योग्य कला की अनुशंसा मे यहां तक कह डाला कि अशिष्ट लोग ही "मैं" से हर वाक्य की शुरुआत करते हैं। किंतु अन्य अनेक नवीन कला सिद्धान्तों (उदाहरणार्थ माइकल फोकाल्ट का "les mots et les chauses" व माइकेस्लाव पोरबस्की का "Iconosphere") को देखने से पता लगता है कि इस अलंकारवादी ने मनुष्य और कला के संबंधों की जो व्याख्या की है उसमे तो मनुष्य का समूचा अंतर्द्वन्द्व ही खत्म हो जाता है और उसके लिए महज अभिव्यक्ति ही प्रमुख समस्या बन जाती है—स्वयं की सीमाओ को जाचने-परखने व रूपक चित्रण की कला।

इन तमाम बातो मे निष्कर्ष यही निकलता है कि अंतःप्रेरणा—जैसा कि फ्रॉम ने इसे मूल लेटिन के सौजन्य से जाना—कला एवं जीवन के क्षेत्रो मे निरतर दुर्बोध होती जायेगी व मनुष्य की सवेदनशीलता विभिन्न जरियों: उद्दीपन की बढती मात्रा एवं शक्ति, जीवन की तेज होती रफ्तार व निरंतर प्रतिक्रियाहीन होते चले जाने की बाध्यता द्वारा एक स्थायी नियति की तरह भोथरी होती जायेगी।

अब सवाल उठता है कि कलाकार दूसरे इंसानो की जिंदगी मे किस तरह भागीदार बने? क्या वह भी उनकी ही तरह या उनका अगुआ बनकर, मानकीकरण के उस सिद्धात को सहर्ष स्वीकार ले, जहां यह भ्रम फैलाया जाता है कि एक व्यक्ति की संवेदना का स्थान सामूहिक सवेदनाएं ले सकती हैं? क्या वह भी दूसरो के साथ-साथ खुद अपने को एक पॉप कलाकार की इस उक्ति के लिए सहमत करले कि—"हर

व्यक्ति दूसरे हर व्यक्ति की तरह हो, हर व्यक्ति एक मशीन की तरह हो ।"

कलाकार, जो व्यक्तिगत दायित्व से कतराता है व कला के क्षेत्र में निजत्व-हीन विशेषज्ञ की भूमिका निभाना चाहता है; सिर्फ कला के लिए ही अंधा भविष्य सृजित नही कर रहा वह समूची दुनिया को वस्तुतः एक और आरामदेह स्थिति में ले जाना चाहता है, जहां कला नही है, जहां सभी कुछ यांत्रिक है ।

एक कलाकार का सहज सामाजिक आकर्षण इसी बात में निहित है कि उसका व्यक्तित्व एक अभियंता, बाबू या सिपाही से भिन्न है; वह अधिक स्पष्टवादी एवं पूर्वग्रह मुक्त है । उसे लोग उन चीजों, अनावश्यक सत्यवादिता एवं लापरवाही, की भी छूट दे देते है जैसा कि वे अन्य व्यक्तियों के साथ नही करते । एक लंबे अर्से तक, हालांकि हमेशा ऐसा नही था, कलाकार ने समाज मे एक मनमौजी की भूमिका निभाई है; कमोबेश एक बच्चे की तरह या गाव के किसी ऐसे मूर्ख की तरह जो कल्पनाशील हो । जाहिर है कि हरेक कलाकार यह नही चाहेगा कि लोग उसे पागल समझें या उससे तत्संबंधित व्यवहार करें; ऐसी स्थितियों में उसकी मांग होती है कि उसे किसी अभियंता या चिकित्सक से अलग करके न देखा जाये ।

लेकिन कला की समूची परंपरा या कि इसका अधिकांश भाग यही बताता है, कि लोग ऐसे पागल पर ही नजर देते है जो समाज की परंपरागत रूप से स्वीकृत मान्यताओं को झिटकार दे; और इतनी स्पष्टवादिता कला के ही क्षेत्र मे संभव है । अनात्मीय परिवेश व स्वचालित मशीनो मे तब्दील होते जाने से आतंकित हम आज अपनी अंत:श्चेतना को भूलते जा रहे हैं, भावशून्य होते जा रहे हैं, और इन स्थितियों में —जैसी कि मनोचिकित्सकों व दर्शनशास्त्रियों की सलाह भी है —हमे कलाकार की ही तरफ सहायता के लिए देखना है । इस पत्थरों की दुनिया में यही हमारा ऐसा भाई है जिसमे अभी संवेदनाएं बाकी हैं । वही ऐसा व्यक्ति है जो वन-प्रांतर से गुजरते हुए महज अपनी मंजिल के बारे मे या घूमने से होने वाले स्वास्थ्य लाभ के बारे मे ही नही सोचता, पूरी तन्मयता और विवेक के साथ वृक्षो की मर्मर ध्वनि भी सुनता है ।

विश्व की स्थिति उस समय इतनी विषम और तात्कालिक है कि अकेली कलाकृतिया ही इस स्थिति मे काफी नही हैं। हमे याद है कि पिछले कई दशको मे हमे लगातार अनेक नयी कलाकृतिया देखने को मिली और पुरानी कलाकृतिया क्रमश. पीछे छूटती गई क्योंकि नये जीवन संदर्भो मे उनका उतना मूल्य नही रह गया । बढ़ती हताशा के बीच हम आज खाली पड़ी कला दीर्घाओं को देखते हैं, मा

सजावट से भरे कविता संग्रहों को देखते हैं और इन सब में हमें "मनुष्य" की तलाश है। जैसे ही हम इस "मनुष्य" को वहां पा जाते हैं, हमें लगता है कि वहां ऐसा कुछ है जो उसके लिए महत्वपूर्ण है, तो हमें चीजें वाकई अर्थवान महसूस होने लगती हैं। इसीलिए हमें कभी—कभी कलाकार के स्टूडियो में जाना, उससे वार्तालाप करना बहुत संतोष देता है—दुर्बोध और उदासीन कलाकृतियां भी तब हमसे बतियाने लगती हैं क्योंकि कलाकार की आस्था ने उन्हें संप्रेषणीय बना दिया है। कला किसी हद तक कलाकार और आस्वादक के बीच एक तरह का हस्ताक्षरयुक्त समझौता है, जिसे आज हर व्यक्ति लगातार तोड़ता जा रहा है।

मनुष्य की तलाश को वस्तुतः हर आदमी नहीं समझ सकता। एक कलाकार ही जानता है कि किस तरह उसे (मनुष्य को) अपनी कला में अर्जित करना है। यह कला के उस गुण विशेष का प्रश्न है जिसकी कोई सामान्य परिभाषा देना कठिन होगा, और जिसकी वजह से ही हम कविता में एक व्यक्ति की आत्मा की आवाज सुनते हैं, एक चित्र देखते हुए उसमें कलाकार की उपस्थिति को महसूस करते हैं।

पोलिश कवि अडम जागजेव्स्की के इस कथन से मैं पूर्णतः सहमत हूं कि "कविता को आज उपनामों की छद्म भाषा तक सीमित न रहकर आम बोलचाल की भाषा में अपनी बात कहनी चाहिए। अब वह समय आ गया है जबकि सहजता ही कविता का उपयुक्त औजार बन चुकी है।"

किंतु सही अर्थों में तो एक बच्चा ही वैसा सहज हो सकता है। कलाकार का इतिहास हमें बताता है कि वह एक बच्चे से मेल नहीं खाता, क्योंकि उसके पास असरय ऐतिहासिक अनुभव हैं—गौरवपूर्ण और दर्दनाक। किसी खास क्षण में वह यदि लाभप्रद वस्तुओं के उत्पादनकर्ताओं से अलग हटा तो इसलिए कि वह उन "वस्तुओं" के जरिए ही खुद को अभिव्यक्त करना चाह रहा था। किंतु जैसे ही एक बार उसने कला के भीतर प्रतिबिंबित विश्व की पृष्ठभूमि में अपना अक्स देखा, उसे महसूस हुआ कि वह दिव्य शक्तियों का मालिक है। वह फिर अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा, उसने सर्वोच्च रागमयता और चरम हिंस्त्रता के परचे दिए। निंदा से चलकर वह संत की-सी नम्रता तक आया। उसने झूठ की सुंदरता को महिमा मंडित किया तो अंतिम, परम सत्य की खोज भी की। खुद अपने ही द्वारा वह मदहोश और पीड़ित किया गया। स्वतंत्रता के लिए अपनाए पलायन के रास्ते को त्याग, दूसरों के साथ मिलकर सर्वजन हिताय काम करने की निष्ठापूर्ण चाह लिए, वह फिर से सामाजिक प्रतिष्ठा की तरफ लौटा। अपने इस गर्वोन्मत अभियान के दौरान उसने चीजों को उस रूप में देखा जिस रूप में बहुत

कम लोग ही उन्हे देख पाते है, पर इसके लिए उसे भोगना भी बहुत पडा। इस दौरान उसने महान कार्य किए किंतु असाधारण रूप से गंदी चालें भी खेली और सैंकडों मर्तबा खुद के हास्यास्पद अतिरेक की वजह से खुद ही मूर्ख बना। वही वजह है कि सब लोग उसे सम्मान की दृष्टि से नही देखते बल्कि बहुत से लोग उसे मूर्ख ही समझते है।

किसी सूत्रबद्ध ढग से कलाकार न तो इकारस से मेल खाता है और न ही प्रामीथियस से। उसे अतीत के अपने सभी अभियान याद है क्योंकि प्रत्येक कलाकार—यहा तक कि छोटे-से-छोटा भी—अंतरतम गह्वरो मे छिपे उन महान् कृत्यो से प्रेम करता है। कोई नही जान सकता कि किस कलाकार मे अचानक माइकलऐंजलो, गोया, डेलाक्रोइक्स या बोदलेयर जन्म ले लेगा। कब वह इस तथ्य को जान लेगा कि यह उसी पर निर्भर है कि वह किस तरह विश्व-क्रम को निर्धारित करे। अथवा—सर्वोत्तम स्थिति मे, कब वह एक कलाकार की हैसियत से—खुद को सीखने, समझने और उद्धाटित करने म लगे मनुष्य की हैसियत से, अपने अनुभव सुनाने लगेगा; जिसने अकेले ही—बिना किसी मध्यस्थ के—अपने प्रारब्ध के रहस्यो को खुद झेला, जिसने उन रहस्यो की परिभाषा खोजने के प्रयास किए।

हमारे लिए एक कलाकार का महानतम मूल्य उसके वे अनुभव हैं जो अपनी चुनौतियों के बाद उसने अर्जित किए। एक कलाकार ही सही अर्थों मे जानता है कि संवेदनशीलता, स्वतत्रता और प्रामाणिकता के ऐवज मे कितनी कीमत चुकानी पडती है। खोयी हुई संवेदनशीलता की पुनर्प्राप्ति मे वही हमारी सहायता कर सकता है और वही हमे यह बोध भी करवा सकता है कि प्रातःकाल, अपने चारो और स्थित वस्तुओं के बीच जागने पर, सही अर्थों मे हम क्या महसूस करते है। इतना ही नहीं, वह हमें मानवीय गरिमा से सिक्त कला भी दे सकता है; कला, जिसमे अपनी तमाम मठाधीशता के बावजूद कलाकार हमेशा अपने कथन के लिए उत्तरदायी होगा—उन स्थितियों मे भी जब खुद उसे पता नही होता कि वह क्या कह रहा है।

कलाकार जिस सत्य को रूप देता है उस सत्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है वह रास्ता जिसे वह उस सत्य तक पहुंचने के लिए अख्तियार करता है, वह ढब, जिससे कि वह खुद अपने व दूसरो द्वारा रचे गये छद्म-जाल को भेदता हुआ इस रास्ते को निश्छल अंतःश्चेतना की तरफ मोड़ता है। कला ससार मे कलाकार की इतनी अर्थवान उपस्थिति इसीलिए एक नितात निजी (हालांकि आदर्श नही) उदाहरण है। कलाकारों के बारे मे प्रचलित कथाए बहुत कुछ जद्दिक (हसिद्दिम का धर्मगुरु) को लक्ष्य कर कही गई हसिद्दिम की कहानियो जैसी हैं; जिनमे, बावजूद इस तथ्य के कि ये कहानिया

प्राय: ही छोटी-छोटी एवं महत्त्वहीन घटनाओं में संबधित होती हैं, उस समुदाय की तमाम विवेकशीलता मिलती है।

रूप के बिना कला की कल्पना हालांकि अधूरी है किन्तु महज रूपों तक ही उसे सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि रूपानुकृतिवाद की स्थिति में वे महत्त्वहीन, नकल के लिए सुगम और असहाय सिद्ध होते हैं। यही वजह है कि आज की ताम-झाम पूर्ण कला इतनी खोखली है। आज फिर जरुरत है कि अपने नायकत्व के जरिए कलाकार कला की पुनर्प्रतिष्ठा करे—कलाकार का "ड्रामा" कला का वह तत्त्व है जिसे नकारना सर्वाधिक दुष्कर है।

(अनुवाद : रामानंद राठी)

आज का लेखन और सामाजिक दायित्व

●

कमलेश्वर

अब तक लेखन की एक ऐसी धारा थी जिसमे न तो लेखक का अपना कोई वक्तव्य था और न समय के प्रति उसकी कोई प्रतिक्रिया। वह केवल एक स्तर का लेखन कर रहा था जिसका उद्देश्य केवल साहित्यिक या सौदर्यशास्त्रीय था। वैसे भी अब तक लेखक से सामाजिक दायित्व के सवाल का पूछा जाना बहुत गलत किस्म की बात मानी जाती थी, क्योंकि लेखक यह कहकर कतरा जाता था कि जो कुछ मैं लिखता हू, लिखता हूं; आप जो कुछ उसे समझते है, समझते रहिए।

लेखन के साथ जो एक लेखकीय निरपेक्षता जुड़ी हुई थी और कथ्य के साथ जो तटस्थता थी, उस दौर मे तमाम वे सवाल लेखन या लेखक के लिए बेकार कर दिये गये थे जिनसे समय का संबंध था। लेकिन जब से आज के लेखक ने या आज की रचना ने इन सवालो को बदला और साहित्य की इस स्थापित भूमिका को वेकार किया, तब से ऐसे सवाल वेमानी नही, बल्कि बहुत जरूरी माने जा रहे हैं। इसीलिए स्वतंत्रता के बाद आज के लेखक के पास यह सुविधा नही है कि वह इन सवालो से कतरा सके या अपने लेखक की जवाबदेही करने से भाग खड़ा हो।

आज जो स्थितियां देश मे मौजूद हैं, वे स्थितिया पहले नहीं थी, ऐसा नही था। लेकिन उन स्थितियों मे जो शक्तियां कार्य कर रही थी, वे शक्तिया बहुत चालाक थी और वे ऐसे समय की प्रतीक्षा में थी कि कब वे न केवल शक्तिशाली हो सकें बल्कि सत्ता भी प्राप्त कर सकें। ऐसा एक दौर चीनी आक्रमण के समय 1962 में भी आया था। उस वक्त न केवल देश की भौगोलिक सीमाओ के लिए खतरा पैदा हुआ था, बल्कि एक जबर्दस्त मानसिक ह्रास या विपन्नता के दर्शन भी हुए थे और हर वह व्यक्ति जो

एक लेखक के रूप में अपने समाज की परिवर्तनकामी शक्तियों के साथ था, सहमा हुआ खड़ा रह गया था। उस समय भी यही हुआ था कि सारा दोष राजनीति पर लादकर बाकी बुद्धिजीवी वर्ग हाथ खड़े करके यह कहने लगा था कि हम क्या कर सकते थे। यह समस्या राजनीति की थी। ताज्जुब उस वक्त भी हुआ था। हमने उन शक्तियों को नहीं पहचाना था, जो 1962 में भी चीनी आक्रमण के समय इस देश में सक्रिय हुई थी। हमारे देश और समाज के लिए जो प्रजातन्त्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद का सपना तैयार किया जा रहा था, वह सपना उस समय तक कितना अधूरा था, यह दूसरी बात है, लेकिन उस सपने को सिर्फ ठेस ही नहीं लगी थी, बल्कि देश में पुरोहितवादी और रूढ़िवादी शक्तियों ने एक जबर्दस्त शून्य पैदा करना चाहा था और उसी का नतीजा था कि हमारे यहां साम्प्रदायिक स्रोतों से जुड़ी हुई असाम्प्रदायिक लगने वाली राजनीतिक पार्टियां एकाएक शक्तिशाली हो गयी थी। कांग्रेस का विभाजन भी कोई दुर्घटना नहीं थी, बल्कि उसमें वे तत्त्व साफ उभर कर सामने आ रहे थे जो दक्षिणपंथी थे और चाहते थे कि कांग्रेस की सत्ता और शक्ति उनके द्वारा चालित हो। जिस समय कांग्रेस का विभाजन हुआ, उस समय भारतीय मानस ने फिर उस खतरे को नहीं पहचाना था क्योंकि स्वतत्रता के बाद से दक्षिणपंथी और वामपंथी शक्तियों का जो ध्रुवीकरण हो रहा था, वह तब तक कोई रूप ग्रहण नहीं कर पाया था।

लेखन के क्षेत्र में जो मूल्यों का भयानक विघटन इन दो दुर्घटनाओं के बाद हुआ, तब से एक चेतना जरूर पैदा हुई कि लेखक राजनीति से अलग नहीं रह सकता, क्योंकि परिवर्तन की जो भूमिका मनुष्य के मन और दिमाग में लेखक तैयार करता है, उसको स्वरूप देने का कार्य राजनीति करती है। और उस वक्त लेखन के क्षेत्र में भी यह सवाल उठाया गया कि लेखक और उसकी रचना को समय-सापेक्ष नहीं होना चाहिए, उसको शाश्वत शक्तियों की बात करनी चाहिए और तात्कालिक राजनीति से निरपेक्ष रहना उसकी रचनात्मकता के लिए बहुत जरूरी है। यह सवाल केवल हिंदी में ही नहीं, सभी भाषाओं में उठाया गया। उस समय जो दृश्य साहित्य के क्षेत्र में उपस्थित हुआ, उसे देखकर शायद किसी को आश्चर्य नहीं हुआ होगा कि एकाएक वह सारा लेखन अत्यंत गरिमा के साथ और अपने चारों तरफ पुराने लेखन का प्रभामंडल लेकर फिर मच पर नजर आने लगा था, क्योंकि उन्हें इस बात का मौका मिला था कि वे साहित्य को फिर गुमराह कर सकें और साहित्य की चुनौतियों को केवल साहित्यिक ही बनी रहने दें, समय से न जुड़ने दें। लेकिन इस समय तक लेखन की एक बहुत प्रबल वैचारिक धारा पैदा हो चुकी थी और इस वैचारिक और सबद्ध धारा में इस तरह के मंतव्यों का विरोध किया गया। यह भी आकस्मिक नहीं था कि यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहा-

मिक कांफ्रेंस कलकत्ता के कथासमारोह के रूप में हुई थी जिसमें पीढ़ियों का सवाल नहीं था, बल्कि नयी ग्रौर पुरानी वैचारिकता से जुड़े रहने वाले पीढ़िगत भेद उभर कर सामने ग्रा गये थे। उस समय ग्रौर उसके कुछ दिनों बाद तक हमारे यहां फिर एक दौर चला जिसमें बाहर से ग्रजनबीपन ग्राया, ड्राप-ग्राउट होने की स्थिति ग्रायी, ग्रस्वीकार की मुद्रा ग्रायी ग्रौर एकाएक ग्राक्रोश ग्रौर स्टूडेंट पावर ग्रौर ग्रपने ग्रस्तित्व की नियति को प्रदर्शित करते हुए व्यक्ति का स्वरूप सामने रखा गया। यानी फिर से इस बात की कोशिश की गयी कि लेखक ग्रपने समय के सामाजिक, राजनीतिक, ग्रार्थिक ग्रौर सांस्कृतिक प्रश्न से ग्रलग हो जाए ग्रौर वह केवल दार्शनिक मुद्रा में कुछ ऐसे सवालों के उत्तर देता रहे जिन सवालों का मनुष्य से कोई लेना-देना न हो, वे केवल मनुष्य की ग्रात्मा से सबंधित दिखाई पड़ें।

चूंकि भारत बहुत बड़ा दार्शनिक देश है, ग्रौर यहां हर व्यक्ति मनुष्य से ज्यादा दार्शनिक होना पसंद करता है, इसलिए दर्शन की वह मुद्रा काफी दिनों तक बड़े जोर-शोर से साहित्य के बाजार में चलती रही ग्रौर इस दार्शनिक मुद्रा के साथ जो चीजें साहित्य के बाजार में ग्रायी, वे थी सेक्स की सूचनाएं, ग्रंधेरी गलियां, कहवाघर, नीली रोशनी वाले कमरे, कांपती टांगें ग्रौर थरथराते बदन। उस वक्त भी जब यह सवाल किया गया कि क्या लेखन का कोई सामाजिक दायित्व है, तब फिर यही उत्तर मिला कि यह प्रश्न साहित्य का प्रश्न नहीं है। लेकिन जब-जब इस सही प्रश्न से साहित्य या साहित्यकार कतराया है, तब-तब समाजचेता ग्रौर समयचेता लेखकों ग्रौर कवियों ने ग्रपने लेखन ग्रौर ग्रपनी रचना द्वारा फिर से एक नयी शुरुग्रात की ग्रौर यह नयी शुरुग्रात हिंदी में ही नहीं, लगभग सभी भाषाग्रों में एक-साथ सामने ग्रायी जहां पर यह कहा गया कि हम साहित्य के इतिहास में जीना पसंद नहीं करते, हम समय के इतिहास में जीना चाहते हैं ग्रौर हमारी नियति, हमारा ग्रस्तित्व या हमारी चिंताएं या हमारी ग्रपेक्षाएं कहीं भी उस ग्रादमी से ग्रलग नहीं हैं जो इस देश का एक ग्रौसत ग्रादमी है या ग्राम ग्रादमी है। जब यह प्रश्न सामने ग्राये, तो फिर प्रतिबद्धता के बारे में शिका-यतें उठ ग्रायी। तब भारतीय लेखन की इस स्पष्ट धारा ने केवल प्रतिबद्धता की ही बात नहीं, बल्कि ग्राने वाले समय ग्रौर ग्रपने समय के मनुष्य की संपूर्ण सबद्धता की बात की। साहित्य को ग्रनुभव तक सीमित नहीं रहने दिया, बल्कि ग्रनुभव के ग्रर्थों तक ले जाने की रचनात्मक कोशिशें शुरू हुईं। ग्रौर ग्राज किसी की हिम्मत नहीं है कि वह यह कह सके कि यह प्रश्न बेकार है या बेमानी है या साहित्य का यह प्रश्न नहीं है। कुछ सौंदर्यवादी लेखकों ने कभी माखनलाल चतुर्वेदी के जरिये से, कभी ग्रन्य वरिष्ठ लेखकों के जरिये से इस प्रश्न पर प्रश्नचिन्ह लगाने की फिर कोशिश की। लेकिन जब

उनसे यह पूछा गया कि अगर साहित्य का प्रश्न उसकी प्रतिबद्धता, संबद्धता और अनुभव के अर्थ नहीं हैं तो फिर साहित्य के प्रश्न कौन से हैं, वे सौंदर्यवादी लेखक बताने की कृपा करें, तो इसका जवाब स्वय उन्होंने तो नही दिया, लेकिन विदेशी लेखकों के जरिये से इधर-उधर कुछ उत्तर देने की कोशिश की गयी—कि गुंटर ग्रास, नार्मन मेलर क्या सोच रहे हैं। लेकिन आज जो स्थिति इस देश मे है और जिस तरह की दक्षिणपथी और समाजवादी शक्तियो के बीच मे ध्रुवीकरण हुआ है, उसमें से जहां कुछ लेखक बडी मासूमियत मे आज भी चुपचाप यह पूछने नजर आते हैं कि दक्षिणपंथी या ये फासिस्टवादी है कौन, तब हम अपनी आदत के अनुसार उन पर तरस खाकर रह जाते है। यह सवाल इतना मासूम नही है। इस दौर में, जिस दौर से हम गुजर रहे हैं, लेखक का दायित्व निश्चय ही उस औसत आदमी की पक्षधरता का है जिसको जीने के लिए दक्षिणपथी, हुल्लडवादी, प्रतिक्रियावादी शक्तियो ने अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया था और उस की रोजमर्रा की जिंदगी हराम कर दी थी। राजनीति के इस मसले को राजनीति ज्यादा सही तरीके से सुलझा सकती है, पर साहित्य इस समय एक जबर्दस्त मानसिकता-निर्माण की भूमिका अदा कर सकता है, किसी बहुत बडे आदर्श को सामने रखकर नही, बल्कि आदमी को आदमी के कद का आदर्श देकर। जरूरत इस बात की है कि इस तरह की जो विघटनकारी शक्तियां अब हमारे सामने बहुत साफ और नगे रूप मे आ गयी हैं उनको साहित्य का लिबास पहनने की सुविधा न दी जाए और अगर सभव हो तो उनको आधी सदी तक इस देश मे नंगा रखा जाए ताकि वे फिर भारतीय उदारता का फायदा उठाकर उसी तरह घुल-मिल न जाएं और सही सवालो को फिर से नजरंदाज करने की भूमिका अदा न करें।

आज का समातर और दलित साहित्य तमाम सौंदर्यवादी मूल्यो की परवाह न करते हुए मनुष्य के औसत दुख-सुख, आकाक्षाओं, सपनो की बात करता है। यह अपने मे इसलिए कभी-कभी साहित्य से अलग दिखाई देने की बात लग सकती है क्योंकि हमारा साहित्य जिस सौदर्य की परिकल्पना करता रहा है, वह हमेशा सत्य और शुभ से अलग जाता रहा है, बल्कि ज्यादातर सौंदर्यवादी साहित्य सत्य और शुभ पर परदा डालता रहा है। समातर और दलित साहित्य ने जब से मनुष्य की मुक्ति के लिए अपने को समर्पित किया है, अततः वह मनुष्य ही शक्ति का स्रोत है जो बौद्धिकता के धरातल पर नही, बल्कि बोध के धरातल पर जिंदा है। ऐसे समय मे लेखकों को केवल लिखित जवाब ही अभीष्ट नही है बल्कि इस बात की भी जरूरत है कि वे अपनी पत्रिकाएं, अपने प्रकाशन और अपने इजहार का तरीका खुद ही ईजाद करें। क्योंकि संस्थाबद्ध प्रकाशन और अन्य स्रोत इस तरह के लेखन को अगर नकारते नही हैं तो छापते भी

नही है। आज जब कागज की बढ़ी हुई कीमत और अन्य चीजों को लेकर किताबों के दाम इतने ज्यादा होते चले जा रहे है कि उनमें छः गुना मुनाफा भी सम्मिलित है और रायल्टी की दरें प्रकाशकों के द्वारा निरंतर घटाये जाने की बातें की जा रही हैं, ऐसे मे जरूरी है कि हम भारतीय लेखक ऐसे सम्मिलित और सहयोगी प्रयासो द्वारा अपने कथ्य को पाठकों तक पहुंचाने के लिए सम्मिलित हों और जैसा कि मैंने पहले कहा है, जो शक्तियां नंगी हुई हैं, उनको इस बात का मौका न दें कि वे फिर से साहित्य का लिबास पहन कर लौट आयें और इस तरह के नये और वैचारिक लेखन को सौंदर्य और खोखली मानवतावादी बातों के झमेले में डालकर अवरुद्ध कर सकें।

बुनियादी स्वाधीनता : कलाकार की या मनुष्य की ?

●

खगेन्द्र ठाकुर

कलाकारों की स्वतंत्रता, उनकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पिछले कई दशकों में बार-बार कई तरह से विचार-विमर्श किया गया है, और आज भी उसका सिलसिला जारी है। असल में, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी देशों के लेखकों एवं बुद्धिजीवियों को ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की समस्या अनेक रूपों में परेशान किये हुए है। एक रूप में समस्या उनके सामने है जो साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था का, उसके मूल्यों एवं चिंतन का विरोध करते हैं। दूसरे रूप में उनके सामने है जो साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था के साथ हैं, उसके नवउपनिवेशवादी चिंतन का प्रचार-प्रसार करते हैं और विश्व समाजवादी व्यवस्था एवं राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के निरंतर विजय-अभियान से भयभीत हैं। पहली कोटि के लेखकों का प्रतिनिधित्व दक्षिण अफ्रीका के प्रसिद्ध लेखक एलेक्स ला गुमा, फिलस्तीन के महमूद दरवेश, पाकिस्तान के फैज अहमद फैज आदि करते हैं, जो अपने देश की मुक्ति के लिए, वहां जनतंत्र की वापसी के लिए अपने शब्दों की शक्ति का बेहिचक भरपूर इस्तेमाल करके अपार यातनाएं झेल रहे हैं, यहां तक कि अपनी प्यारी जन्मभूमि में रहने तक के अधिकार से वे वंचित कर दिये गये हैं। लेकिन ये तो कुछ नाम हैं बानगी के तौर पर, वास्तव में पूंजीवादी दुनिया में शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ बोलने-लिखने के कारण कष्ट झेलने वालों की लंबी कतार है। यदि वे समझौता कर लें तो अज्ञेय, स्टीफेन स्पेंडर आदि की तरह भौतिक शुभ-लाभ प्राप्त करके मजे की जिंदगी व्यतीत कर सकते हैं, अन्यथा अपने घर, अपने देश में जीना भी उनके लिए मुश्किल है। जाहिर है कि दूसरी कोटि

के लेखक अज्ञेय स्टीफेन स्पेंडर आदि है, जो स्वतंत्रता और समाजवाद के दुर्जेय रथ के लगातार बढते जाने से परेशान है और तब पूंजीवादी दुनिया के लेखकों एव बुद्धिजीवियो को समझाते है कि समाजवादी व्यवस्था मे अभिव्यक्ति की स्वतत्रता नही है और वह सकट तुम पर भी आ रहा है, सावधान हो जाओ। इस तरह की चेतावनी का चरित्र वही है जो अमरीकी पेंटागन तथा नाटो के द्वारा पश्चिम यूरोप के पू जीवादी राष्ट्रो एवं विकासमान देशो को यह समझाये जाने का है कि उन पर सोवियत सघ का खतरा है। कल्पित सोवियत खतरा दिखाना नवउपनिवेशवादी रणनीति के कार्यान्वयन का मुख्य कदम है और बौद्धिक, सास्कृतिक क्षेत्र मे समाजवादी व्यवस्था के अतर्गत अभिव्यक्ति की स्वतत्रता का कल्पित अभाव दिखाना उसी रणनीति का वैचारिक रूप है। इसका उद्देश्य है पू जीवादी दुनिया की जनता को समाजवादी आन्दोलन से दूर रखना, और मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण को कायम रखना। इस तरह जाहिर है कि अभिव्यक्ति की स्वतत्रता का नारा किस प्रकार मानव-समाज को गुलामी मे जकडे रहने का प्रयत्न करता है।

दिसम्बर 1981 में स्टीफन स्पेंडर ने एक लेख लिखा था "स्वाधीनता और कलाकार।" स्पेडर ने इस लेख मे स्वाधीनता सम्बन्धी अपने विचारो को आधुनिक इतिहास के खास घटनाक्रम के निजी अनुभवो के प्रसग मे रखने की कोशिश की है। उनका यह क्रम अत्यन्त रोचक है। इस सदी के दूसरे दशक मे, जब वे छात्र थे, तब स्वतत्रता के बारे मे उनका विचार "मुख्यतया कलाकार की स्वाधीनता का था कि वह जीवन को जैसा देखे वैसा उसका आकलन करे।" वे अपने को "सिद्धाततः अराजनीतिक" समझते थे। लेकिन आगे चलकर स्वयं इतिहास के अनुभवो ने 'व्यक्ति की स्वाधीनता के प्रति' स्टीफेन स्पेंडर के दृष्टिकोण को बदल दिया। वे कहते हैं—"मैंने गहराई मे जाना शुरू किया", फलत "जीवन को जैसा देखा वैसा आकलन" करने का, निरपेक्ष स्वतत्रता का 'अराजनीतिक' विचार उन्हे गलत मालूम पडा। वे कहने को मजबूर हुए—"मैंने यह भी महसूस किया कि जनता का संघर्ष वियना के समाजवादी, स्पेन के किसान और मजदूर—मेरे अपने सघर्ष से या अन्य किसी भी लेखक के वैयक्तिक स्वातत्र्य से बढ कर था।" लेकिन उन्होंने एक खास परिस्थिति मे यह महसूस किया था। स्टीफेन स्पेडर जैसे बुद्धिजीवियो के लिए उस परिस्थिति का मुख्य सार क्या था, यह उन्ही के शब्दो मे सुनिये—"फासिस्ट विरोधी बुर्जुआ बुद्धिजीवियो मे अतरात्मा का सकट घर कर गया था।" और उन्होने अनुभव किया कि—"फासीवाद के विरोधियो की मुख्य शक्ति और मार्गदर्शन का स्रोत साम्यवादी थे। सारे दशक मे हिटलर की बढ़ती सफलता और जनतात्रिक देशो की अपनी जनतात्रिक सस्थाओ की इस धमकी

का जवाब देने में असफलता, ये वे कारण थे, जिन्होंने फासिस्ट-विरोधियों को अधिक से अधिक साम्यवादी खेमे में ला दिया।" और फासीवाद की पराजय तथा विश्व समाजवादी व्यवस्था के उदय के बाद के दौर में स्टीफेन स्पेंडर जैसे बुद्धिजीवी फिर साम्यवाद के खेमे से हटकर पूंजीवादी खेमे में आ गये। ऐसा क्यों हुआ ? वे स्वयं जो कारण बताते हैं, उस पर भी गौर करना चाहिए, हालांकि वह असली कारण है नहीं। वे बताते हैं कि *"आवश्यकता की पहचान पर आधारित सत्ता"* जिन देशों में कायम हुई, यानी समाजवादी देशों में (क्योंकि एंगेल्स ने स्वतंत्रता की परिभाषा करते हुए उसे आवश्यकता की पहचान कहा था) विरोधियों के दमन के लिए हिंसात्मक तरीके अपनाये गये, वहां विरोध का अधिकार नहीं रह गया, इस तरह उन्होंने यह महसूस किया कि स्वाधीनता को बलि चढ़ा दिया गया। इसीलिए स्टीफेन स्पेंडर कहते हैं—"मैं संपूर्ण जीवन के बारे में लिखने की लेखक की स्वाधीनता के अपने पूर्व के विश्वास की ओर लौट आया हूं।" इस तरह अपनी तरुणाई में, मस्तिष्क की अपरिपक्व अवस्था में स्टीफेन स्पेंडर ने जहां से यात्रा शुरू की थी, वे फिर वहीं लौट आये। इस प्रत्यावर्तन या प्रतिगमन यानी वापसी का जो उपर्युक्त कारण उन्होंने बताया है, उसकी समीक्षा करने के पहले मैं उनकी उस समझ का अन्वय करना चाहता हूं, जिसके कारण वे तथा उनके जैसे अनेक बुद्धिजीवी एवं लेखक साम्यवादी खेमे में चले गये थे। इस प्रक्रिया के बारे में जो उद्धरण स्पेंडर का ऊपर दिया गया है, उस पर गौर करें। जब फासीवाद का ज्वार उठा, तो इन बुद्धिजीवियों ने 'अंतरात्मा का संकट' महसूस किया, पूंजीवादी खेमा और उसकी जनतांत्रिक संस्थाएं फासीवादी खतरे का मुकाबला करने में समर्थ नहीं थीं और फासीवाद के खिलाफ संघर्ष करनेवालों में साम्यवादी सबसे आगे थे, वे इस संघर्ष का मार्ग दर्शन कर रहे थे। इस हालात में उन्होंने देखा कि फासीवादी संकट से *उनकी-'अंतरात्मा' को भी साम्यवादी ही मुक्त कर सकते थे।* इससे यह *स्पष्ट है कि* उन बुद्धिजीवियों को उस दौर में भी मानव-सभ्यता एवं संस्कृति की नहीं, अपनी अंतरात्मा की चिंता थी। दूसरी बात, यह कि पूंजीवादी खेमे की 'जनतांत्रिक संस्थाएं' क्यों जनतंत्र की रक्षा करने में असमर्थ हो रही थीं, इसकी *व्याख्या* स्पेंडर जैसे लेखकों ने नहीं की। बात यह थी कि जिन्हें वे जनतांत्रिक संस्थाएं समझ रहे थे, वे असल में पूंजीवादी जनतांत्रिक संस्थाएं थीं, वे पूंजीपतियों के लिए थीं, जनता की, मेहनतकश जनता की शक्ति उनके साथ नहीं थी। फिर फासीवाद भी तो पूंजीवाद के ही एक रूप की अभिव्यक्ति था, वित्तीय पूंजी के सबसे प्रतिक्रियावादी, सबसे आतंकवादी, सबसे अधराष्ट्रवादी रूप की अभिव्यक्ति, इसलिए पूंजीवादी उसके खिलाफ संघर्ष में अगुवाई कर नहीं सकता था, यह काम मेहनतकशों को, उनकी राजनीतिक सत्ता को, तमाम

फासिस्ट-विरोधी जनता की कार्रवाई के आधार पर करना था। पूंजीवाद तो जनता की कार्रवाईयों से स्वयं डरता है, अतः उनका दमन करता है। स्पेंडर आदि ने फासीवाद विरोधी संघर्ष में शामिल विभिन्न शक्तियों की ऐतिहासिक भूमिका तथा उनके परिप्रेक्ष्य को नहीं समझा, समाज की विकासधारा पर गौर नहीं किया और अपनी अंतरात्मा की चिंता में ही परेशान रहे। इस तरह साम्यवाद के खेमे मे उनका जाना एक प्रकार का अवसरवाद था, किसी सामाजिक, ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक समझ का इजहार नहीं। मार्क्सवाद के खेमे में जा कर भी उन्होंने मार्क्सवाद को स्वीकारा नहीं था। स्वाभाविक है कि जब वह दौर बीत गया, तो उनका मूल रूप, अंतरात्मा की चिंता में डूबा रहनेवाला रूप प्रकट हो गया। लेकिन ऐतिहासिक एवं सामाजिक शक्तियों की भूमिका को ठीक से नही पहचानने तथा समाज विकास की वैज्ञानिक समझ नही रहने के कारण यह दुर्घटना हो गयी कि "आवश्यकता की पहचान" पर आधारित शोषण मुक्त समाजवादी समाज में भी 'विरोध करने का अधिकार' वे खोजने लगे। इस तरह वे विरोध करने के अधिकार को निरपेक्ष समझ बैठे, जबकि विज्ञान के अनुसार हर चीज सापेक्ष है। विरोध को एक शाश्वत प्रक्रिया बना देने का ही नतीजा है कि वे फासीवाद का विरोध करने के बाद साम्यवाद का भी विरोध करने लगे और अब देखिए कि उनका विरोध शाश्वत एवं निरपेक्ष नही रहा, क्योंकि अब वे नवउपनिवेशवाद के समर्थक बन गये हैं। चिली में नागरिक अधिकारों के घनघोर दमन, पाब्लो नेरूदा एवं विक्टर जारा की हत्या, फिलस्तीनियों के राष्ट्रीय अधिकार के अपहरण, पाकिस्तान मे जनतांत्रिक अधिकारों के कुचले जाने, उन देशों से अनेक लेखको एवं बुद्धिजीवियों के निष्कासन आदि मे उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के दमन एवं आतंक का अनुभव नहीं होता।

यदि स्टीफेन स्पेंडर तथा उनके जैसे बुद्धिजीवी फासीवाद के उदय तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने में पूंजीवाद की असमर्थता के कारणों का सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक विश्लेषण करते तो समझ सकते थे कि दूसरे महायुद्ध का समय इतिहास मे उस दौर की पराकाष्ठा था, जिसमें पूंजीवाद न केवल अपनी क्रांतिकारिता खो चुका था, बल्कि प्रतिक्रियावादी बन गया था, तब उनका ध्यान इस बात पर भी जाता कि कार्ल मार्क्स ने 1848 मे ही पूजीवादी संकट का विश्लेषण करते हुए उसकी क्रांतिकारिता के ह्रास का जिक्र किया था। इसीलिए उन्होने इस नये दौर मे बताया कि क्रांति का दायित्व मजदूर वर्ग पर है। वास्तव मे, मजदूर वर्ग पूरे समाज को शोषण-मुक्त करनेवाला है। बुद्धिजीवियों की स्वतंत्रता की गारंटी भी वही दे सकता है, क्योंकि पूंजीवादी समाज मे तो बुद्धिजीवी भी दूसरों की श्रम शक्ति खरीदने वालों की सेवा करने को मजबूर हैं। लेनिन ने बीसवी सदी के प्रारंभ में और स्पष्ट रूप से बता

दिया कि पूंजीवाद साम्राज्यवाद की अवस्था मे पहुच गया है और उसकी क्रांतिकारी क्षमता समाप्तप्राय. है। लेनिन ने यह भी बताया था कि पूंजीवाद का विषम विकास होगा और उसके अर्तविरोध बढते जायेंगे। इसीलिए लेनिन ने बताया कि मजदूर वर्ग को ही जनवादी क्राति एव समाजवादी क्राति, दोनो को सपन्न करने का दायित्व पूरा करना है। इस प्रक्रिया को समझने वाला जनतान्त्रिक अधिकारो एवं अभिव्यक्ति की स्वतत्रता की रक्षा के लिए पूंजीवादी खेमे मे नही जा सकता। भारत मे पिछले दिनो हम देख चुके है कि कांग्रेस सरकार ने जिस तरह जनतान्त्रिक अधिकारो पर प्रहार किया था, उसी तरह उसको अपदस्थ करके सरकार मे आनेवाली जनता पार्टी ने भी किया, हा फर्क इतना था कि एक ने आपातकाल के जरिये प्रहार किया, तो दूसरे ने आपात काल को उठाने के बाद भी विभिन्न जनतत्र-विरोधी कानूनों के जरिये वह काम किया। यह अस्वाभाविक नही है कि मजदूर वर्ग को जैसे कांग्रेस राज मे लड़ना पड़ा था, वैसे ही जनता पार्टी के राज मे भी और फिर कांग्रेस (इ) के राज मे भी लडना पड़ रहा है। यह भी ध्यान देने की बात है कि दुनिया मे हर जगह आजादी और जनतत्र के लिए लडनेवाली शक्तियो को सोवियत सघ का समर्थन हासिल है। यह मार्क्सवाद की मुक्तिकारी व्यावहारिक भूमिका है और फासीवाद विरोधी सघर्ष की गौरवशाली परंपरा का ही विकास है।

स्टीफेन स्पेंडर कहते है—"किसी भी अन्य तरह की बौद्धिक अभिव्यक्ति पर राजनीतिक अकुश से बचने के लिए यह जरूरी है कि व्यक्तिगत चेतना के किसी तत्त्व पर विश्वास किया जाय, जो राजनीतिक दायरे के बाहर है।" काश, ऐसा हो पाता कि स्पेंडर राजनीतिक दायरे से बाहर हो पाते। काश, यह भी सभव हो पाता कि उनकी 'व्यक्तिगत चेतना' तटस्थ निर्णय लेने मे सक्षम हो पाती। काश, इतना भी हो सकता कि वे 'सपूर्ण जीवन के बारे मे लिखने की लेखक की स्वाधीनता' का उपयोग करके अपने समाज के पूरे जीवन का चित्र दे पाते। जब वे कहते हैं—समाजवादी समाज मे अभिव्यक्ति की स्वतत्रता नही है, तो अवश्य वे राजनीतिक वक्तव्य देते है, क्योकि यह किसी भी प्रकार लेखकीय समस्या से सबधित वक्तव्य नही है। जाहिर है कि वे आज भी अराजनीतिक नही हैं। जिसे वे व्यक्तिगत चेतना कहते हैं, वह वास्तव मे समाजवाद-विरोधी यानी पूंजीवादी समाज की उपज है और वह सपत्ति के निजी स्वामित्व से उत्पन्न व्यक्तिगत स्वार्थ का ही एक रूप है। यही कारण है कि वे स्वतत्र निर्णय लेने मे सक्षम नही है। मार्क्स का यह कथन यहा भी प्रमाणित होता है कि मनुष्य की चेतना को उसका भौतिक परिवेश निर्धारित करता है। पश्चिम के कम्युनिस्ट-विरोधी लेखक यदि चित्रित कर पाते कि अमरीका की नीग्रो जाति किस प्रकार नागरिक अधिकारो का

उपयोग नहीं कर पाती और उन्हें कितनी यत्रणा सहनी पड़ रही है, तो मान लिया जाता कि वे अपने समाज के संपूर्ण जीवन का चित्र दे सकते हैं। हमारे अज्ञेय जी को हरिजनो की हत्या और बंबई के कपड़ा मजदूरों की एक साल से ज्यादा लंबी हड़ताल से उत्पन्न व्यथा कही छूनी तक नहीं। इस हालत मे यह समझना कठिन तो नही है कि ऐसे लेखक अपनी अभिव्यक्ति की स्वतत्रता का इस्तेमाल किसके लिए करते हैं। यथा-स्थितिवादी लेखन कर्म करने पर उन्हे क्यों किसी प्रकार का 'राजनीतिक अंकुश' सहना पडेगा। अंकुश तो उनको झेलना पडता है जिनके सामने प्रश्न दुनिया को बदलने का है, जो मानव-संबधों का पुनर्गठन करना चाहते हैं और उसके लिए लडते भी है।

स्पेंडर ने एक समस्या इस तरह उठायी है कि—"मार्क्सवाद जो आत्मपरीक्षण सिखाता है, उसके प्रति मैं उसका कृतज्ञ हूं। अगर मुझे किसी बात के प्रति अविश्वास है तो यह कि उस आत्म-परीक्षण को तानाशाहों की कमेटी के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।" लेकिन स्पेंडर से यहां गलती यह हो रही है कि वे नही समझ पा रहे है कि आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया से गुजरने पर अहं का विसर्जन भी होता है और तब आत्मपरीक्षण को किसी भी समूह (कमेटी) के सामने रखने मे हिचक नही होती। अहं का विसर्जन नही होने पर तो कठिनाई होती ही है। यो यह स्वीकार करने मे हमे कोई एतराज नही कि जब मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी मे भी किसी ऐतिहासिक कारण से आतरिक जनतत्र सकुचित हो जाता है और उसमे भी अफसराना रुख विकसित हो जाता है तो स्वाभिमानी बुद्धिजीवियो एव लेखकों को परेशानी होती है। ऐसी स्थिति यदि कभी किसी कम्युनिस्ट पार्टी में आ भी जाती है, तो वह ज्यादा दिन नही चल सकती। स्तालिन का व्यक्तित्व समाजवादी निर्माण की सफलता और फासीवाद के खिलाफ देश-भक्ति पूर्ण युद्ध में शानदार विजय की पृष्ठभूमि में दबग हो गया, फलतः अंदरूनी जनतत्र कुंठित हुआ। इसके लिए स्तालिन के प्रति साथियों एवं जनता की अपार श्रद्धा एवं स्तालिन का अपना व्यक्तित्व दोनों ही बातें जिम्मेदार थी। लेकिन आखिर यह स्थिति भी समाप्त हुई और जनतान्त्रिक प्रक्रिया पुन स्थापित हुई। अफसराना रुख या व्यक्ति पूजा कम्युनिस्ट पार्टी के लिए अस्वाभाविक है। उसमे स्वतत्रता वस्तुतः सचेत अनुशासन एवं जनतान्त्रिक अधिकार दोनो से निर्मित होती है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को 'आवश्यकता' से अलग कर देना वास्तव मे चेतना को समाज से लेखक को यथार्थ से अलग कर देना है। ऐसा करना लेखक को जीवन मे, उसकी विषय-वस्तु के स्रोत से ही विच्छिन्न कर देना है। इस हालत मे कलाकार या लेखक निहायत स्वेच्छाचारी एवं अराजक हो जाता है तथा उसका लेखन सर्वथा

जिसका समाज के लिए कोई महत्व नहीं होता। चूंकि मनुष्य की चेतना उसके भौतिक-सामाजिक परिवेश से विच्छिन्न नही हो सकती, इसलिए यह स्वाभाविक है कि कला-सृजन की प्रक्रिया— सामाजिक प्रक्रिया का, सामाजिक जीवन में मनुष्य की रचनात्मक कार्रवाइयों का एक भाग है। इसी प्रसग मे यह समझा जा सकता है कि कलाकार की स्वतन्त्रता, उसकी अभिव्यक्ति की या सृजन की स्वतन्त्रता समग्र सामाजिक स्वतंत्रता का एक विशिष्ट भाग है और वास्तविक सामाजिक स्वतन्त्रता व्यक्ति, राष्ट्र और समाज तीनों की आवश्यकताओ एव अपेक्षाओ के संज्ञान के बिना नहीं कायम की जा सकती। उनमे से किसी की स्वतन्त्रता को दूसरे के मुकाबले खड़ा करने से मामला गड़बड़ हो जाता है। भारत समेत तीसरी दुनिया के पूंजीवादी देशों में जो संकट किसी व्यक्ति को झेलना पड़ रहा है, वह देश के भीतर के पूंजीवादी सकट के साथ ही विश्व पूंजीवाद के संकट से भी जुड़ा हुआ है। इसीलिए देश के भीतर सकट मुक्त होकर एक स्वतंत्र नागरिक के रूप मे, एक स्वतन्त्र आत्मनिर्भर राष्ट्र के रूप मे उभरने का हमारा सघर्ष स्वभावतः साम्राज्यवाद एव विश्व पूंजीवाद के खिलाफ विश्व समाजवादी व्यवस्था एवं राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के सघर्ष से जुड जाता है। जो सघर्ष के इस पक्ष से अलग हैं वे जाने-अनजाने साम्राज्यवाद एवं नवउपनिवेशवाद के साथ हो जाते हैं। जरा गौर करें तो आप पायेंगे कि देश के भीतर जो मेहनतकश जनता के वर्ग-संघर्ष पर नाक-भौं चढ़ाते हैं, वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी विश्व का भी विरोध करते हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि अज्ञेय या निर्मल वर्मा जैसे लेखक हमारे देश में नवउपनिवेशवादी चिंतन के वाहक बन गये हैं, वह भी उसके मरणोन्मुख दौर मे, जबकि वह अत्यधिक ह्रासोन्मुख एव प्रतिक्रियावादी बन चुका है। पूंजीवाद ने अपने उदय एवं विकास के दौर मे सामाजिक रूढियो के खिलाफ संघर्ष किया था, विज्ञान को स्वीकार करके उसके सहारे अपना विकास किया। लेकिन आज वह तमाम तरह की रूढियो एवं पतनोन्मुख मूल्यों को सहारा दे रहा है। यह कैसी रोचक समानता है कि श्रीमती इंदिरा गांधी भी मंदिर-मंदिर दौड रही हैं, बाबाओ एवं तान्त्रिको के चक्कर मे हैं, तो अज्ञेय जी भी जानकी-जीवन यात्रा कर रहे है। और निर्मल वर्मा भी कहते हैं कि—"धार्मिक आस्था जीने की प्रक्रिया मे चरितार्थ और पुष्ट होती है।" (शब्द और स्मृति, पृ०-25)। इस तरह ये सभी मनुष्य की शक्ति को, उसके पुरुषार्थ को एक अदृश्य एवं अज्ञेय शक्ति के हवाले करके जीवन को बेहतर, खूबसूरत एवं स्वतंत्र बनाने के सर्जनात्मक कर्म से अलग कर देते हैं। ताज्जुब है कि इनके बावजूद वे अपने को व्यक्ति एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्षधर कहते है। यह कितना गलत है कि स्टीफेन स्पेंडर 'अभिव्यक्ति की ...त स्वाधीनता' के लिए सघर्ष को ही मानवता के भविष्य के लिए संघर्ष समझते

हैं, यह तो तभी होता जब एक लेखक की व्यक्तिगत स्वाधीनता और मानवता का भविष्य दोनों एक दूसरे के पर्याय होते, जब लेखक की व्यक्तिगत चेतना सामाजिक चेतना से एकमेव हो जाती। मानवता का भविष्य निहित है, मानव-संबंधों का पुनर्गठन करके एक मनुष्य को दूसरे परोपजीवी मनुष्य के शोषण से मुक्त करने में, दुनिया भर से आदमी की जिंदगी और मौत का सौदा करनेवालों का खात्मा कर देने के ऐतिहासिक अभियान की विजय में और मानवता को किसी भी प्रकार के युद्ध की आशंका से मुक्त कर देने में। स्पेंडर को गौर करना चाहिए इस प्रश्न पर कि आज क्यों पश्चिम यूरोप के देश तथाकथित सोवियत खतरे के सिद्धांत को ठुकरा कर सोवियत संघ से सहयोग पाने को उत्सुक हैं ? इसलिए न कि उनकी अपनी व्यवस्था ने, विश्व पूंजीवाद ने उनको ऐसे संकट में फंसा दिया है, जिससे उनका उबरना मुश्किल हो गया है। स्वयं इंगलैंड आज इस हालत में पहुंच गया है कि अमरीका के सामने अपनी स्वतंत्रता प्रायः खो बैठा है। आज की ऐतिहासिक आवश्यकता को समझने के लिए इस घटनाक्रम को समझना जरूरी है, लेकिन स्टीफेन स्पेंडर या अज्ञेय या निर्मल वर्मा इसे नजरअंदाज कर देते हैं। यदि वे इस पर गौर करके आज की ऐतिहासिक आवश्यकता को समझेंगे तो स्वीकार करेंगे कि एलेक्स ला गुमा की व्यक्ति स्वतंत्रता के लिए दक्षिण अफ्रीका का गोरी नस्लवादी तानाशाही के चंगुल से मुक्त होना, महमूद दरवेश की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए फिलस्तीन की राष्ट्रीय स्वतंत्रता का पुनः स्थापित होना और फैज अहमद फैज की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए पाकिस्तान में जनतंत्र का कायम होना पहली शर्त है। इसी तरह स्पेंडर की स्वतंत्रता के लिए इंगलैंड का अमरीकी प्रभुत्व से मुक्त होना जरूरी है।

कला की सामाजिकता

राजीव गुप्त

कला एक सामाजिक वास्तविकता के रूप मे समाज के विकास की अभिव्यक्ति है। श्रम के विभाजन के आधार पर निर्मित होने वाले प्रस्थिति समूहो मे कलाकारो का भी एक समूह विकसित हुआ है जो अपने कला माध्यमो में खुद को अभिव्यक्त करता है व तत्कालीन समाज के सामाजिक संबधो के स्वरूपो को कला–रूपो मे व्यक्त करता है। अत कलाकार अपनी मानसिक योग्यताओ के आधार पर न सिर्फ समाज की सौंदर्यात्मक अनुभूति की मूल आवश्यकताओं की सतुष्टि करता है बल्कि समाज की प्रकृति एवं उसके भविष्य की सभावनाओ को भी प्रस्तुत करता है। स्वाभाविक है कि इस स्थिति मे कला को समाज की सभ्यता एव सस्कृति के प्रतिरूप के रूप मे भी परिभाषित किया जा सकता है।

दुनिया के हर समाज का इतिहास 'भ्रामक चेतना' एवं 'वास्तविक चेतना' के विरोध का इतिहास है। चेतना के ये स्तर कला में भी अभिव्यक्त होते हैं। सामान्यतया कला से संबद्ध क्रियाओ को समाज के अधिकाश सदस्य एक निरर्थक प्रयास की सज्ञा देते है, जो 'भ्रामक चेतना' का प्रभाव है। कला–सृजन वस्तुत ऐसी अर्थपूर्ण सामाजिक क्रिया है, जो एतिहासिक-सामाजिक सदर्भों मे समाज की आदर्श संरचना की निर्णायक इकाई है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए एडवर्ड बी. टायलर[1] ने संस्कृति की परिभाषा मे कला को महत्वपूर्ण तत्त्व के रूप मे सम्मिलित किया है। यह परिभाषा मानवशास्त्रीय सदर्भ मे सस्कृति का प्रस्तुतिकरण करती है। कला इस अर्थ

1 एडवर्ड बी. टायलर ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' मे सस्कृति की व्याख्या ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता आदि की जटिल व्यवस्था के रूप मे की है।

में एक ओर जहां समाज की सौंदर्यात्मक अनुभूति के महत्व को प्रस्तुत करती समाज के परिवर्तनशील स्वरूप की विवेचना भी करती है। सभ्यता के प्रारम से ही मानव कलात्मक अभिरुचि से संबद्ध सामाजिक प्राणी है। कला के विकास का इतिहास ही सभ्यता का विकास है। प्रत्येक मानव चूंकि यत्रों का निर्माण भी करता है, अत. कला उसके सौंदर्यबोध एवं श्रम के मध्य सबधो को भी अभिव्यक्त करती है और इन्ही अर्थों में कला एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया है।

कार्ल मार्क्स ने अपने वैज्ञानिक विश्लेषणो मे कला के समाजशास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत किया है। मार्क्स के अनुसार वस्तुओ का उत्पादन मानव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु करता है। इस उत्पादन प्रक्रिया मे 'सौदर्यात्मक नियमो' की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अत. कला के माध्यम से ऐसी जन-चेतना विकसित होती है जिसकी न सिर्फ कलात्मक अभिरुचि है अपितु जो सौदर्य की अनुभूति करने मे भी सक्षम है। समाज के विकास की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है कि जब किसी वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उसमे रुचि रखने वाला जन-समूह भी स्वत: विकसित हो जाता है; इस रुचि की सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनो ही भूमिकाएं हो सकती है, जो अंतत. द्वंद्ववाद की प्रक्रिया को जन्म देती हैं। कला एवं श्रम, सामाजिक एवं सृजनात्मक कला, सौदर्यात्मक अनुभवो की सामाजिक प्रकृति, कला एवं सामाजिक वर्गों के मध्य संबंध आदि अनेक सवाल कला के समाजशास्त्र को सामाजिक चेतना का भाग बना देते हैं।[2]

कला का सामाजिक यथार्थ से घनिष्ठ संबंध होता है। हमारी विचारधारा, संज्ञानात्मक शक्ति, एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था मे कला संबंधी उपलब्धिया, भौतिक उत्पादन एवं कला तथा सामाजिक निरंतरता के मध्य संबंधो का मूल्याकन, उस समाज की कलात्मक गतिविधियो के आधार पर संभव है। कला इस अर्थ मे किसी भी समाज की 'सामाजिक विरासत' का अंग है। कला पूर्व स्थापित बुर्जुआ समाज व्यवस्था का समर्थन भी कर सकती है और उसके विरोध को सटीक रूपों में प्रस्तुत भी कर सकती है। कला के ये दोनो पक्ष सामाजिक संबंधो की प्रकृति पर आधारित हैं, जिन्हे वह कलाकार लगातार अस्वीकारता है जो कला को मात्र मनोरंजन की दृष्टि से विवेचित करता है। कला का अंतर्मुखी पक्ष महत्त्वपूर्ण है किंतु हमे बाह्य यथार्थ से जुडे कला के सरोकारो

2. कला एवं सौंदर्यबोध से संबंधित इन पक्षो का विवेचन मार्क्स ने अपनी पुस्तको "द इकनॉमिक एण्ड फिलासॉफिकल मनुस्क्रिप्ट ऑफ 1844, 'क्रिटिक ऑफ पालिटिकल इकॉनमी' एवं 'केपिटल' आदि मे किया है।

कला की सामाजिकता

●

राजीव गुप्त

कला एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में समाज के विकास की अभिव्यक्ति है। श्रम के विभाजन के आधार पर निर्मित होने वाले प्रस्थिति समूहों में कलाकारों का भी एक समूह विकसित हुआ है जो अपने कला माध्यमों से खुद को अभिव्यक्त करता है व तत्कालीन समाज के सामाजिक संबंधों के स्वरूपों को कला-रूपों में व्यक्त करता है। अतः कलाकार अपनी मानसिक योग्यताओं के आधार पर न सिर्फ समाज की सौंदर्यात्मक अनुभूति की मूल आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है बल्कि समाज की प्रकृति एवं उसके भविष्य की संभावनाओं को भी प्रस्तुत करता है। स्वाभाविक है कि इस स्थिति में कला को समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतिरूप के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है।

दुनिया के हर समाज का इतिहास 'भ्रामक चेतना' एवं 'वास्तविक चेतना' के विरोध का इतिहास है। चेतना के ये स्तर कला में भी अभिव्यक्त होते हैं। सामान्यतया कला से संबद्ध क्रियाओं को समाज के अधिकांश सदस्य एक निरर्थक प्रयास की संज्ञा देते हैं, जो 'भ्रामक चेतना' का प्रभाव है। कला-सृजन वस्तुतः ऐसी अर्थपूर्ण सामाजिक क्रिया है, जो एतिहासिक-सामाजिक संदर्भों में समाज की आदर्श संरचना की निर्णायक इकाई है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए एडवर्ड बी. टायलर[1] ने संस्कृति की परिभाषा में कला को महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में सम्मिलित किया है। यह परिभाषा मानवशास्त्रीय संदर्भ में संस्कृति का प्रस्तुतिकरण करती है। कला इस अर्थ

1 एडवर्ड बी. टायलर ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में संस्कृति की व्याख्या ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता आदि की जटिल व्यवस्था के रूप में की है।

मे एक ओर जहा समाज की सौंदर्यात्मक अनुभूति के महत्व को प्रस्तुत करती है, वही समाज के परिवर्तनशील स्वरूप की विवेचना भी करती है। सभ्यता के प्रारंभ से ही मानव कलात्मक अभिरुचि से संबद्ध सामाजिक प्राणी है। कला के विकास का इतिहास ही सभ्यता का विकास है। प्रत्येक मानव चूंकि यंत्रों का निर्माण भी करता है, अतः कला उसके सौंदर्यबोध एवं श्रम के मध्य संबंधों को भी अभिव्यक्त करती है और इन्हीं अर्थों मे कला एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया है।

कार्ल मार्क्स ने अपने वैज्ञानिक विश्लेषणों में कला के समाजशास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत किया है। मार्क्स के अनुसार वस्तुओं का उत्पादन मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करता है। इस उत्पादन प्रक्रिया मे 'सौंदर्यात्मक नियमों' की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः कला के माध्यम से ऐसी जन-चेतना विकसित होती है जिसकी न सिर्फ कलात्मक अभिरुचि है अपितु जो सौंदर्य की अनुभूति करने में भी सक्षम है। समाज के विकास की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है कि जब किसी वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उसमे रुचि रखने वाला जन-समूह भी स्वतः विकसित हो जाता है; इस रुचि की सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही भूमिकाएं हो सकती हैं, जो अंततः द्वंद्ववाद की प्रक्रिया को जन्म देती हैं। कला एवं श्रम, सामाजिक एवं सृजनात्मक कला, सौंदर्यात्मक अनुभवों की सामाजिक प्रकृति, कला एवं सामाजिक वर्गों के मध्य संबंध आदि अनेक सवाल कला के समाजशास्त्र को सामाजिक चेतना का भाग बना देते हैं।[2]

कला का सामाजिक यथार्थ से घनिष्ठ संबंध होता है। हमारी विचारधारा, संज्ञानात्मक शक्ति, एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था में कला संबंधी प्रतिक्रिया, भौतिक उत्पादन एवं कला तथा सामाजिक निरंतरता के मध्य संबंधों का मूल्यांकन, उस समाज की कलात्मक गतिविधियों के आधार पर संभव है। कला इस अर्थ मे किसी भी समाज की 'सामाजिक विरासत' का अंश है। कला पूर्व स्थापित पूंजी समाज व्यवस्था का समर्थन भी कर सकती है और उसके विरोध को सटीक रूपों में प्रस्तुत भी कर सकती है। कला के ये दोनों पक्ष सामाजिक संबंधों की प्रकृति पर आधारित हैं, जिन्हें वह कलाकार लगातार अस्वीकारता है जो कला को मात्र मनोरंजन की दृष्टि से विवेचित करता है। कला का अंतर्मुखी पक्ष महत्वपूर्ण है किंतु हमें वाह्य यथार्थ से जुड़े कला के सरोकारों

2. कला एवं सौंदर्यबोध से संबंधित इन पक्षों का विवेचन मार्क्स ने अपनी पुस्तकों "द इकनॉमिक एण्ड फिलासॉफिकल मनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844; 'क्रिटिक ऑफ पालिटिकल इकॉनमी' एवं 'कैपिटल' आदि में किया है।

को भी नही भूलना चाहिए। कलाकार चूँकि एक संवेदनशील सामाजिक प्राणी है अतः वह सामाजिक तथ्यों के प्रति उदासीनता अथवा अपरिचितता कैसे दिखा सकता है? कला कलाकार की वह सामाजिक भाषा है जो किसी घटना को संपूर्ण अभिव्यक्ति देने मे सफल होने पर आदर्श सामाजिक संरचना के तत्वों से क्रांति के लिए प्रेरणा दे सकती है। समाज के सदस्य चूँकि अपने सामाजिक मूल्यों की तुलना तत्कालीन कला-मूल्यों से कर सकते है, अत. सामाजिक संघर्ष मे कला की रचनात्मक भूमिका को भी हमें स्वीकारना पडेगा।

कला चेतना का हमारे सांस्कृतिक लक्ष्यों से भी घनिष्ठ संबंध है। लक्ष्यों की एकरूपता अथवा उनके बिखराव को प्रस्तुत कर कला समाज मे परिवर्तनकामी तत्त्वो का विकास भी करती है। इसीलिए कला एक अनिवार्य मानवीय क्रिया एवं विचार संप्रेषण की महत्त्वपूर्ण प्रणाली है। वे संस्थाएं जो सामाजिक हितों के लिए कार्य करती हैं, कला के सामाजिक महत्त्व को स्वीकारती हैं, तथा कला को भावात्मक व वैचारिक स्वरूपो में प्रस्तुत करती हैं। इसीलिए जन-आदोलनों मे भी कला का महत्त्वपूर्ण हथियार के रूप मे उपयोग किया जाता है, ताकि व्यक्ति की भावनाओ एवं तार्किकता के मध्य समन्वय स्थापित हो सके।

कोई भी कला चूँकि समाज से इतर नहीं है, प्रत्येक समाज इसीलिए अपनी, कला को संरक्षण प्रदान करता है, और इसीलिए कला की राज्य से सदैव अंतक्रिया होती है। कला एवं समाज के संबंधो की प्रकृति एतिहासिक तौर पर उस समाज मे सहयोग, निरपेक्षता संघर्ष एवं क्राति के प्रतीक प्रदान करती है। हर युग की महान कला सार्वभौमिक तत्त्वो को प्रस्तुत करती है, जो एतिहासिक व सामाजिक संदर्भों मे, सामाजिक वर्गों के विकास की विशिष्ट प्रकृति को प्रस्तुत करते हैं। अतः महान सार्वभौमिक कला का जन्म तो विशिष्ट संदर्भों मे होता है किंतु यह सामान्यतया के तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करती है।

ईमानदार कला समाज मे चूँकि शोषण का विरोध करती है, अतः शोषक तत्त्वो से इसका सदैव विरोध होता है। कलाकार की भूमिका भी यहा अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि इसकी कला-गतिविधिया समाज मे किसी भी चेतना का विकास कर सकती हैं। वर्ग विभाजित समाज में शासक वर्ग सदैव अल्प संख्या मे होता है, जो शासित वर्ग का शोषण करता है। शोषण प्रक्रिया की निरंतरता हेतु वह 'भ्रामक चेतना' व अलगाव के तत्त्व विकसित करता है। दूसरे शब्दों में, विशिष्टता सामान्यता

को नियंत्रित करती है। इस स्थिति मे कला का विशिष्ट रूप भी सामान्यता पर नियंत्रण का प्रयास करता है, ताकि शासक वर्ग के हितो को सामान्य जन के हितो के रूप मे प्रस्तुत किया जा सके। कला की जटिल प्रकृति जिसे तथाकथित आधुनिक कला की संज्ञा दी जाती है जन सामान्य के हितो का प्रस्तुतिकरण नही है। जागतिक यथार्थ से दूर यह अमूर्त कला जन–सामान्य की समझ से परे है जो परोक्ष रूप से शासक वर्ग के हितों का ही संरक्षण करती है। कला की यही भूमिका हम प्राचीन यूनानी समाज मे भी पाते है, जहा कि 'शोक' के प्रतीको के रूप में कला ने "राजनैनिक कला" का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। मध्यकालीन समाज मे भी कला के माध्यम से जन साधारण की धार्मिक आस्था को बल मिला। इन दोनों ही कालो मे कलात्मक गतिविधियो ने तत्कालीन जन सामान्य को प्रभावित किया क्योंकि वे तत्संबंधित सामाजिक मूल्यो का प्रतिनिधित्व करती थी, इसीलिए सामाजिक संस्थाओ ने भी तब कला को संरक्षण प्रदान किया। भारत की वैदिक–कालीन कला भी इसी आधार पर सामाजिक संरक्षण प्राप्त कर सकी।

'जागरण युग' के पश्चात हम कला की प्रकृति मे परिवर्तन पाते हैं। इस युग मे सामंतवादी संबंधो के प्राचीन स्वरूपो को चुनौती मिली[3] तथा कला का स्वरूप भी उसी के अनुरूप परिवर्तित हुआ कला के दृष्टिकोण को इसीलिए इस काल मे समस्याओ के प्रस्तुतिकरण के रूप मे देखा जा सकता है। इस युग मे एक और नये सामाजिक वर्ग—पूंजीपति वर्ग–का जन्म हुआ। यह वर्ग भौतिक उत्पादन के साधनो पर न सिर्फ स्वामित्व रखता था अपितु इस वर्ग ने मानवीय नियंत्रण के नवीन स्वरूप भी विकसित किए। श्रम शक्ति का रूपांतरण एक उपभोग्य वस्तु के रूप मे हुआ। इस काल मे कला एवं समाज के मध्य भी अंतविरोधी संबंधो का विकास हुआ। एक ओर समाज ने कलाकारो का विरोध किया क्योकि वे सृजन की स्वाभाविक विशेषताओ का प्रतिनिधित्व करते थे तो दूसरी तरफ पूंजीपति वर्ग के रूप मे विकसित इस नवीन शासक वर्ग ने कलाकारो का शोषण किया और उन्हे बाध्य किया कि वे कला का विकास शासकीय संरक्षण मे करें। इसके परिणामस्वरूप अब कला और समाज के बीच अलगाव का सूत्रपात हुआ। अतः हम अमूर्त कला के विकास को भी परिस्थितिजन्य मान सकते हैं। अमूर्त कला में संघर्षों को अप्रकट, सांकेतिक रूप मे अभिव्यक्त किया जाने लगा जिन्हें जन–सामान्य समझने में असमर्थ रहा, फलतः कला का समाज से अर्थपूर्ण संबंध विच्छिन्न हो गया। कलाकार ने अपनी संवेदनाओ को जो अभिव्यक्ति दी

---

3. सोसायटी एण्ड चेंज—एसेज इन द ऑनर ऑफ सचिन चौधरी, पृष्ठ–1.

वे हालांकि शिक्षित मध्यवर्ग को तो बोध प्रदान करती थी, किंतु मध्यमवर्ग ने अपनी प्रतिक्रियावादी एवं समझौतावादी प्रवृत्तियों के कारण इन प्रतीकों को केवल कलात्मक तुष्टि तक ही सीमित मान लिया; जो अंततः कला के जनाधार का ही विरोध है। अतः कलाकार ने इस नयी पूंजीवादी व्यवस्था में अपनी सृजनात्मक शक्तियों के आधार पर विरोध के स्वर तो प्रस्तुत किए पर उनका स्वरूप जटिल होता गया। विभिन्न कला विधाओं के माध्यम से हालांकि कलाकार ने उत्पादन के पूंजीवादी साधनों का विरोध भी किया, पूंजीवादी संस्थाओं के नियमों को भी जटिल प्रतीकों के माध्यम से उसने चुनौती दी—संक्षेप में, कलाकार ने अपने मूल मानवीय विरोध को तो इस पूंजीवादी परिवेश में भी बनाए रखा किंतु उसके विरोध का स्वर अब उतना असरकारी नहीं रह गया।

कला के समाजशास्त्र का औचित्य तभी है जबकि कलाकार अपनी प्रतीकात्मक भाषा को जन-साधारण तक पहुंचाने में सफल हो। संप्रेषण की यह सफलता ही कलाकार को समाज के हर तबके तक पहुंचा सकती है। साथ ही जन साधारण का भी यह दायित्व है कि वह 'वास्तविक कला' की खोज करे, उन संकेतों तथा प्रतीकों को समझे जो कलाकार ने उसकी चेतना को झकझोरने हेतु प्रस्तुत किए हैं, क्योंकि कला एवं समाज के बीच का अर्थपूर्ण संवाद—समाजशास्त्र की यथार्थ भूमिका, ही समाजिक परिवर्तन में प्रभावी सिद्ध हो सकती है।

साहित्य : प्रासंगिकता एवं संप्रेषण के सवाल

●

परमानंद सिंह

काव्य अभिव्यक्ति है अथवा संप्रेषण; युग सापेक्ष है अथवा सार्वकालिक, ये बहुत प्राचीन प्रश्न नहीं हैं। यूरोप में प्लेटो एवं अरस्तू के सिद्धांतों से लेकर 18 वीं 19 वीं शताब्दी के नव्य-क्लासिकीय साहित्य चिंतन तक यह निर्विवाद था कि साहित्य संप्रेषण है और यह संप्रेषणीयता सार्वकालिक है। साहित्य की इसी संप्रेषणीयता की वजह से ही प्लेटो को अपने आदर्श राज्य में कवियों—गायकों की उपस्थिति से परेशानी महसूस हुई थी। अरस्तू का विरेचन का सिद्धांत तथा होरेस, क्विंटीलियन से लेकर फ्रांसीसी एवं नव्य-क्लासिकीय साहित्य-चिंतन की "आनंदमूलक उपदेश" जैसी सौंदर्य-शास्त्रीय अवधारणा भी इसी मान्यता की पोषक थी। काव्य की संप्रेषणीयता की गहरी पकड़ ने ही दांते व तुलसी को अपने महाकाव्यों की रचना के लिए बोलियों तक पहुंचाया था। हिंदी का रीतिकाल तथा फ्रांसीसी एवं अंग्रेजी साहित्य का नव्य-क्लासिकीय चिंतन अपनी रीतिगत जकड़न के बावजूद अपने "सुसंस्कृत" आश्रयदाताओं को भूल नहीं सका था। असल में अभिव्यक्ति और संप्रेषण तब एक सिक्के के दो पहलू थे, दोनों की आदर्श अन्विति ही साहित्यिक उत्कृष्टता का मानक थी।

पश्चिमी चिंतन परंपरा में प्लेटो (ई.पू. 426-348) पहले मनीषी हैं, जिन्होंने संप्रेषण व अभिव्यक्ति के सवालों पर गंभीरता से विचार किया। प्लेटो के समय में चूंकि होमर की वीर काव्य-गाथाओं की श्रुति परंपरा समाज में प्रचलित थी, अतः गायकों व समकालीन कवियों के जादुई प्रभाव का उन्हें अनुभव था। उन्होंने देखा

था कि किस तरह कविता-गायक एवं रंगमंचीय प्रस्तुति के समक्ष आस्वादक जनता अभिभूत हो उठती थी। प्लेटो ने रचनाकार के प्रभाव को समझाने के लिए चुम्बक का उदाहरण दिया। प्लेटो के अनुसार दैवीय प्रभाव में आकर कवि में चुंबकीय गुण आ जाते है, जिसके प्रभाव से दूसरे लोग सहज ही उसकी तरफ आकर्षित हो जाते हैं।

प्लेटो के पश्चात अरस्तू (ई.पू. 384–322) ने काव्यकृति की निजता एवं उसकी सम्प्रेषणीयता पर सिलसिलेवार विचार कर कवि कर्म को विशिष्टता दी। काव्य अब "अनुकृति की अनुकृति" न रहकर "संभावित असंभाव" से जुड़ गया। अरस्तू के अनुसार कवि जो "घट चुका है" उसमें संबंधित न रहकर जो "घट सकता है" उससे संबंधित है। काव्य किसी खास घटना की अनुकृति न होकर सार्वभौम मानवीय स्थितियों में निहित संभावनाओं की अनुकृति है। इस प्रकार अरस्तू ने काव्य को दार्शनिक गंभीरता एवं सार्वभौमिकता प्रदान की। साथ ही उन्होंने काव्य के सामाजिक–वैयक्तिक प्रयोजन तथा उसकी विशिष्टता पर भी बल दिया।

जाहिर है कि अरस्तू तक आते-आते साहित्य एक स्वतंत्र अनुशासन बन गया। इतना ही नहीं "विचारों" की अनुकृति की अनुकृति से अलग साहित्य अब "मानव व्यापारों की सृजनात्मक अनुकृति" के रूप में स्वीकारा जाने लगा। अरस्तू के बाद का संपूर्ण साहित्य चिंतन किसी न किसी रूप में अरस्तू को ही आधार मानता रहा। मध्ययुगीन साहित्य चूंकि ईसाइयत के विधी-निषेधों का शिकार बन गया था, अतः धर्म निरपेक्ष रचनाओं को नीचा दिखाने के लिए इस युग में प्लेटो का सहारा लिया गया किंतु पुनर्जागरण (Renaissance) के दौरान अरस्तू दुबारा स्थापित हुए और इस युग में उनकी सृजनधर्मी अवधारणाएं पुनः प्रासंगिक बनी।

17 वीं तथा 18 वीं सदी के दौरान फ्रांस व इंग्लैंड में एक नये ढंग का साहित्य–चिंतन आरंभ हुआ जिसे नव्य क्लासिकीय नाम से जाना गया। उसने प्राचीन यूनान एवं इटली की चिंतन पद्धति में अपने बीज खोजे, परिणामतः यह सृजनधर्मी होने के बजाय रीतिधर्मी ही रहा। इस चिंतन–पद्धति में प्लेटो व अरस्तू की मान्यताओं को सीधे न स्वीकार कर उन्हें मुख्यतः होरेस के चश्मे से देखा गया था।

फ्रांस के नव्य–क्लासिकीय साहित्य–चिंतक का प्रभाव अंग्रेजी राजशाही के पुनर्स्थापना (Restoration, 1660) के बाद अंग्रेजी साहित्य पर पड़ा। ड्राइडन (1631–1700), एलेग्जेंडर पोप (1668–1744), एवं डा० जान्सन (1709-1784) अंग्रेजी नव्य क्लासिकीय ढर्रे के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। ये सभी विवेक,

-प्रकृति, प्राचीन नियमो, औचित्य, आनंदयुक्त उपदेश जैसी फ्रास की नव्य क्लासिकीय सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणाओं को अपने चिंतन एवं सृजन के केंद्र में रखते थे। साथ ही अंग्रेजी नव्य क्लासिकीय चिंतन ने सामान्य मानव प्रकृति (General human nature) पर अत्यधिक बल दिया। कहा गया कि प्राकृतिक नियमों की ही तरह चूंकि सामान्य मानव प्रवृत्ति भी अपरिवर्तनशील, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक है, अतः सामान्य मानव--प्रकृति की अनुकृति किसी भी साहित्यिक कृति को सार्वकालिक प्रासंगिकता प्रदान करती है। डा० समुअल जान्सन लिखते हैं : "सामान्य (मानव) प्रकृति की प्रस्तुति के अलावा अन्य कुछ भी बहुतो को बहुत देर तक आनंद नही दे सकता मस्तिष्क केवल सत्य की स्थिरता मे ही सुख का अनुभव कर सकता है।"

बाद मे, बीसवी सदी मे डा. एफ आर. लीविस व टी. एस. इलियट आदि ने किसी न किसी रूप मे अपरिवर्तनीय मानव प्रकृति अथवा अविच्छिन्न परंपरा जैसी अमूर्त धारणा के आधार पर ही काव्य की सात्यतता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। डा. लीविस की "निहित मानव प्रकृति" की अवधारणा नव्य-क्लासिकीय लगती है। यूनानी कवयित्री सफो (ई पू 7 वी सदी) के गीतों के 2500 वर्ष बाद भी, मौजूद जादुई प्रभाव के संदर्भ मे टी एस. इलियट लिखते है :

"......महत्त्वपूर्ण है वह अनुभूति जो विभिन्न शताब्दियो एवं भाषाओं के सारे मानव दृश्यो मे एक-सी है, वह चिंगारी जो 2500 वर्ष की दूरी को लाध जाती है।" इलियट के इस वक्तव्य मे भी, नव्य क्लासिकीय "मानव प्रकृति" संबंधी अवधारणा की ही तरह, अपरिवर्तननीय, सार्वकालिक एव सार्वभौमिक अमूर्त तत्त्वो की तरफ सकेत किया गया है। लेकिन इन दोनो मे से कोई भी रीतिवादी नही है, दोनो ही यद्यपि "साहित्य को साहित्य के रूप मे" पढने पर बल देते है और दोनो ही पूंजीवाद का प्रबल विरोध करते हैं। काव्य की प्रासगिकता की तरफ सकेत करते हुए इलियट ने एक जगह लिखा कि किसी काव्यकृति मे निहित "काव्य" के निकष "काव्यगत" होंगे लेकिन उसकी सार्वकालिक महानता के बीज "काव्यगत मूल्यो की सीमा से बाहर" होगे।

इंग्लैंड के समाज मे 19 वी सदी के आते-आते निरंकुश औद्योगिकरण का कुप्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था। वस्तुओं का उत्पादन बढा, अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार हुआ और गुलाम देशो से लूट का माल भी इंग्लैंड मे इस काल मे आया। किंतु यह सारी समृद्धि समाज के ऊपरी लुटेरे तबके एवं उनके सहयोगियो तक ही पहुची। गाव टूटा, परंपराए टूटी। शहरो मे भीड़ बढ़ी। महलो के इर्द-गिर्द भुग्गी-झोंपड़ियां

का अंबार लगता गया। समृद्धि के समांतर बढ़ती गरीबी और अमानवीकरण का अहसास अब संवेदनशील लोगों को होने लगा और समाज सुधार के लिए आक्रामक आंदोलनों की शुरुआत हुई। वह सांस्कृतिक ढांचा जिसके बल पर अपरिवर्तनीय "सामान्य मानव प्रकृति" की बातें की जा रही थी लड़खड़ा-सा गया और अलेग्जेंडर पोप के सतही आशावाद के लिए अब कहीं स्थान नहीं बच रहा। कवि ब्लेक की पंक्ति "भौतिक समृद्धि के साथ मनुष्य का पतन होता है।" (When wealth accumulates men decays), का अर्थ अब समझ में आने लगा। पूंजीवादी प्रभाव में मानव जीवन का जिसीकरण प्रारंभ हुआ।

अंग्रेजी साहित्य का इन्सानी चिंतन और सृजन इन्हीं अमानवीय परिस्थितियों की प्रतिक्रिया थी। रचनाकार व पाठक की दूरी अब और कम हुई और रचनाकार "नैतिक शिक्षक" बनने की वाछा रखने लगा। प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने कविता को जब एक तरफ तो "सशक्त अनुभूतियों का स्वत.स्फूर्त उफान" माना और दूसरी तरफ पाठकीय जिम्मेदारी की बात कही: "लेकिन कवि मात्र कवियों के लिए नहीं बल्कि सामान्य लोगों के लिए लिखते हैं। अतः कवि को चाहिए कि वह अपनी तथाकथित ऊंचाई छोड़कर उसी प्रकार खुद को अभिव्यक्त करे जिस तरह की सामान्य जन करता है, ताकि वह (कवि) विवेकपूर्ण सहानुभूति जगा सके।" शेले ने तो रचनाकार को "विश्व का अनपहचाना विधायक" तक कहा। एक अन्य रूमानी कवि जान कीट्स को काव्य में तात्विक चिंतन एवं योजनाबद्ध उद्देश्य से नफरत थी। कवि के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए कीट्स ने "निगेटिव केपेबिलिटी" की बात की। कीट्स के अनुसार कवि अपनी अद्भुत संवेदनशीलता के जरिए केवल बाहरी अनुभवों को भोगता और पचाता जाता है जैसा कि हरबर्ट रीड का कथन है—कवि के पास "व्यक्तित्व" होता है "चरित्र" नहीं। अपनी एक उत्कृष्ट कविता "Ode to a Nightingal" में कवि अपने जागतिक जीवन के क्रूर अनुभवों से कहीं दूर चला जाना चाहता है। उसके समक्ष तीन विकल्प हैं: नाइटिंगल का संगीतमय संसार जिसमें वह प्रवेश पा चुका है; काव्य का सूक्ष्म कल्पनालोक; नाइटिंगल के संगीतमय सौरभ संसार में रहते हुए ही मौत का सुखद आलिंगन। कवि तीनों को एक-एक कर नकारता जाता है। वह नाइटिंगल के स्वप्नलोक से जमीन पर लौटता है, उसकी तंद्रा टूटती है और वह चकित-सा रह जाता है। पूछना है कि जो अभी-अभी बीता है वह "दिवास्वप्न" तो नहीं था। संसार अब उसे मधुर घनघनाती घंटियों का-सा संगीतमय लगने लगता है। जगत को स्वीकृति मिल जाती है।

क्रूर यथार्थ की जनक पूंजीवाद की काली छाया में लिखा गया रूमानी साहित्य अंतर्मुखी होता चला गया। वह अब वस्तुगत सत्य की बात कम कर रचनात्मक ईमानदारी की बात अधिक करने लगा। किंतु इस युग की आत्मगतता रचनाकार के लिए पूंजीवादी विकास से उत्पन्न विकराल अमानवीय स्थितियों से बचे रहने का कवच ही थी। इस पलायन मे नकारात्मक विद्रोह है, समर्पण नही। रचनाकार अभी भी प्रामीथियन व्यक्तित्व है, उसे अपनी रचना की शक्ति पर विश्वास है। साहित्य की संप्रेषणीयता का महत्व भी इसीलिए यहां कम नही हुआ है। साहित्य व्यापार मे यहां पाठक निहित है और रचना के अस्वाद हेतु उसे विशेष "साहित्यिक योग्यता" की जरुरत नही पडती। काव्य अभी रूप-प्रधान एवं शब्द-क्रीड़ा न होकर भाव प्रधान है जिसमें समाज के परिवर्तन की बेहद बलवती इच्छा निहित है। अंग्रेजी के प्रभावशाली आलोचक मैथ्यू आर्नोल्ड तक काव्य "जीवन की समालोचना" बना हुआ है। "मधुरता एवं आनंद" के पैरोकार आर्नोल्ड ने काव्य को "समाज में मनुष्य के मानवीकरण" की प्रक्रिया से जोड़ा और उन्नीसवी सदी में विज्ञान के आक्रमण से ढहते धार्मिक विश्वासों व हिलती सांस्कृतिक जड़ों से पैदा हुई निराशा के बीच काव्य को मानव मात्र का सहारा बताया : "काव्य के संबंध मे अब तक जो मान्यता रही है उससे कही अधिक सम्मान और महत्त्व के साथ हमे इसके बारे मे सोचना चाहिए। हम जान लें कि सामान्य जन ने अब तक जो कुछ भी इस बारे में समझा है उससे कही बहुत अधिक यह (मनुष्य के) उच्चतर प्रयोजनो एवं नियति की ओर प्रेरित करने के योग्य है। मनुष्य उत्तरोत्तर यह पायेगा कि हमें अपने जीवन की व्याख्या, सात्वना एवं बचाव के लिए काव्य की ओर मुड़ना है।"

किंतु बाद मे गाशियर, व्हिश्लर, ऑस्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर के कलावादी चिंतन एवं क्रोच की अभिव्यंजनावाद संबंधी दार्शनिक-कलावादी अवधारणा से गुजरती हुई काव्य--चिंतन की एक नयी धारा बही जिसकी चरम परिणति अमेरिका की "नव्य आलोचना" के रूप मे हुई। इन चिंतकों ने काव्यकृति को स्वतंत्र, स्वयं में पूर्ण रचनात्मक अन्विति माना। उन्होने काव्यकृति के आंतरिक तत्वों (भाषागत सरचना, लय योजना, बिंब विधान, प्रतीक, मिथक, व्यंग्य, तनाव आदि) की जाच-पड़ताल पर बल दिया। मूल्यांकन का स्थान अब तकनीकी जाच-पड़ताल ने ले लिया। साहित्यिक कृति से संबंधित वैयक्तिकता, पाठकीय तत्त्व, उद्देश्यपरकता व ऐतिहासिकता आदि को "भ्रांति" (Fallacy) घोषित कर दिया गया और इन्हे साहित्य का बाह्य तत्त्व गिना जाने लगा, जो महज "बेकग्राउंड इनफार्मेशन" देता है कृति की अनुपम इयत्ता से

इनका कोई सरोकार नहीं। इस नव्य आलोचना के लिए संप्रेषणीयता भी कोरी बकवास बन गई। नव्य कलामिकीय चिंतन की "अपरिवर्तनीय मानव प्रकृति" की अवधारणा को यदि मानव प्रकृति का परामौतिकवाद माना जाये तो नव्य आलोचना के अतिशय रूपवाद को रूप का परभौतिकवाद मान लेने में कोई हर्ज नहीं। काव्य के रसास्वादन के लिए अब सहृदय होना ही पर्याप्त नहीं रहा, उसके लिए आनेयन क्यूलर के शब्दों में, "साहित्यिक योग्यता" की भी आवश्यकता पड़ने लगी। सहज आस्वाद का स्थान अब बौद्धिक व्यायाम ने ले लिया, रचना एक विशेषीकृत जिस बन गई। काव्यकृति एवं काव्य चिंतन के फेटिशाइजेशन (Fetishization) की यह पराकाष्ठा है जो साहित्यकार के आत्म-निर्वासन (Self alienation) की सूचक भी है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसे कलावादी चिंतन के रूप में समझा जा सकता है। नव उपनिवेशवादी राजनीति जिस तरह मूर्त आर्थिक एवं मानवीय उद्देश्यों को भिटक कर अमूर्त स्वतंत्रता, शाश्वत मूल्य तथा चुनावी दावे के बचाव में आक्रामक हो उठी है, उसी तर्ज पर नव्य आलोचना भी अब कृति के मूर्त मानवीय तत्वों एवं संदर्भों को छोड़कर उसकी रूपगतता को महिमा मंडित करने में व्यस्त है।

साहित्यिक कृति की संप्रेषणीयता एवं प्रासंगिकता को लेकर मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने भी काफी विचार किया है। प्रासंगिकता के सवाल को सर्वप्रथम खुद कार्ल मार्क्स ने अपने बहुचर्चित ग्रंथ "राजनीतिक अर्थशास्त्र का आलोचना में योगदान" (1857) के लिए लिखी गई "भूमिका"[1] में उठाया था। मार्क्स खुद यूनानी साहित्य एवं दर्शन में विशेष रुचि रखते थे और उन्हें आश्चर्य होता था कि इतने सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के बावजूद यूनानी साहित्य का जादुई प्रभाव कायम है। उल्लिखित भूमिका के स्थान पर लिखे गये "आमुख" में उन्होंने एक सामान्य स्थापना दी थी: "भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति सामाजिक, राजनैतिक एवं सामान्यतया बौद्धिक जीवन-प्रक्रिया को प्रभावित करती है। मनुष्य के अस्तित्व का निर्धारण मनुष्य की चेतना नहीं करती, बल्कि, इसके विपरीत, उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।" मार्क्स आगे लिखते हैं: "आर्थिक आधार में परिवर्तन के साथ ही संपूर्ण विशाल अधिरचना (Superstructure) कमोबेश तेजी से रूपांतरित हो जाती है। लेकिन इस प्रकार के रूपांतरण के बारे में विचार करते समय हमेशा ही उत्पादन की आर्थिक स्थितियों के भौतिक रूपांतरण—जिसे प्रकृतिविज्ञान की तरह बारीकी से समझा जा

1. यह 'भूमिका' उस समय एक 'आमुख' द्वारा स्थानांतरित कर दी गई थी और यह बाद में (सन् 1939) में 'ग्रेंड्रीज' में प्रकाशित हुई।

सकता है, तथा विधानगत, राजनीतिक, धार्मिक, सौंदर्यशास्त्रीय या दार्शनिक रूपांतरण; संक्षेप मे विभिन्न विचारधारात्मक रूपों (Ideological forms) के रूपांतरण, जिनके साध्यम मे लोग संघर्ष करते हुए आगे बढते हैं—मे भेद करना चाहिए।"

इस "आमुख" के आलोक मे मार्क्स ने "भूमिका" मे जो विचार व्यक्त किए वे बहुत रोचक हैं। वे मानते हैं कि आज के युग मे 'इलियड' और 'ओडिसी' जैसे महाकाव्य नही लिखे जा सकते। महाकाव्यो की रचना के अनुकूल परिस्थितियां अब नही रही। यूनानी कला के सृजन हेतु यूनानी मिथक आवश्यक हैं और इन मिथको की कल्पना भी एक निश्चित प्रकार के पिछड़े आर्थिक-राजनीतिक ढांचे मे ही सम्भव थी। " 'कठिनाई यह समझने मे नही है कि यूनानी कलाएं एव महाकाव्य सामाजिक विकास के किन्ही रूपो से बधे है, कठिनाई यह है कि वे आज भी कलात्मक आनंद देते हैं और किसी-न-किसी प्रकार मानक (Norm) एव अप्राप्य आदर्श (Unattainable ideal) के रूप मे भी महत्त्वपूर्ण हैं।

उक्त कठिनाई के निराकरण हेतु मार्क्स ने यूनान के प्रागैतिहासिक समाज को मानवता का "ऐतिहासिक वचपन" वताया। यूनान के प्राचीन काव्य से प्राप्त आनद की तुलना उन्होने निर्दोष बच्चे के प्रति सहज आकर्षण से की। यूनानी काव्य को उन्होने मानवता के ऐतिहासिक बचपन का "खूबसूरत प्रतिफलन" माना, उसे मानव इतिहास का एक ऐसा क्षण माना जो हमेशा-हमेशा के लिए बीत गया है और जिसमे अप्राप्य की मधुरता निहित है। उन्होने इसीलिए सामाजिक-आर्थिक विकास तथा कलात्मक विकास मे किसी भी सीधे समीकरण को नकारा—"विकसित समाज बेहतर साहित्य भी देगा, इस बात की कोई सनद नही है, आर्थिक-सामाजिक धरातल पर पिछड़े होने के वावजूद भी यूनान ने बेहतर साहित्य दिया।"

मार्क्स के बाद आने वाले मार्क्सवादी चिंतकों मे से कुछ ने तो मार्क्स की धारणा को ही पुष्ट किया और कुछ ने इस व्याख्या को अपर्याप्त मानकर नई व्याख्याएं दी। फ्रंज मेहरिंग और जार्जी प्लेखानोव जैसे प्रथम पीढी के मार्क्सवादी चिंतकों का ध्यान इस ओर नही गया। मिखाइल लिफ्शिज ने सर्वप्रथम मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र पर स्वतत्र ग्रंथ लिखा। लिफ्शिज ने मार्क्स की स्थापनाओं को ही आधार बनाते हुए कहा कि प्राचीन यूनानी समाज चूंकि वर्तमान पूंजीवादी समाज की तुलना मे कहीं ज्यादा 'सतुलित' था अतः उस समय बेहतर साहित्य की रचना संभव हुई। पूंजीवादी समाज के गलाघोटू वातावरण मे चूंकि सामाजिक संतुलन बिगड़ा है और सवेदनशील व्यक्ति आत्मनिर्वासित हुआ है, अतः इन स्थितियों में कला की भी अवमानना हुई है।

दूसरी तरफ जार्जलूकाच ने अपने एक बहुचर्चित निबंध में कहा है कि यूनानी साहित्य के प्रति सहज आकर्षण पर टिप्पणी करते हुए मार्क्स ने उसके संदर्भ एवं इतिहास दृष्टि को ही सामने रखा है तथा यूनानी ससार की प्रासगिकता को मानवता का सतुलित बचपन कहकर उसे बाद की पीढ़ियो के अध्यात्मिक जीवन से जोड़ दिया है। लूकाच ने शेक्सपीयर, बाल्जाक, वाल्टर स्कॉट, गेटे, टॉलस्टॉय इत्यादि के साहित्य में निहित यथार्थ को आधार बनाकर अपनी यथार्थवादी सौंदर्यशास्त्र की अवधारणा को प्रतिष्ठित किया। इस नयी स्थापना के अनुसार मानवीय व्यापारो मे निहित यथार्थवादी सभावनाओ की द्वंद्वात्मक पकड़ ही किसी साहित्यिक कृति को महान बना सकती है। महान कला "नरेशन" (Narration) है, "डिस्क्रिप्शन" (Description) नही। ऐसी कला जीवन को उसकी समग्रता, गति, प्रगति एवं विकास के साथ प्रस्तुत करती है तथा वह सार्वभौम, विशेष एव व्यक्तिक तत्त्वो की द्वन्द्वात्मक अन्विति है। कला की यही मानवीय सार्वभौमिकता—यथार्थ का तत्व, कला को प्रासगिकता प्रदान करता है। सक्षेप मे, लूकाच के अनुसार, कला का मूल्याकन उसकी मानवीय सार्थकता की शर्तों पर किया जाना चाहिए और इसीलिए लूकाच अपनी स्थापनाओ मे कमोबेश अरस्तू के सस्करण मालूम पडते है।

मार्क्सवादी कला समीक्षक अर्न्स्त फिशर ने भी "कला की आवश्यकता" पुस्तक मे प्रासगिकता के प्रश्न की चर्चा करते हुए लिखा है कि हर युग की भिन्न सामाजिक स्थितियो के बावजूद कलाकृति मे कुछ-न-कुछ ऐसा तत्त्व जरूर होता है जो किसी "अपरिवर्तनीय सत्य" को अभिव्यक्त करता है। मानव इतिहास मे क्रमविहीन असगतता के साथ-साथ निरतरता भी है, प्रत्येक वर्ग अथवा सामाजिक व्यवस्था अपनी निजी विशिष्टता रखने के साथ-साथ एक सार्वभौम चरित्र (Universal ethos) के निर्माण मे भी योगदान देती है। सार्वकालिक कला इन्ही तत्त्वो को अभिव्यक्ति देती है। सार्वकालिकता के सदर्भ मे ही फिशर कुछ शाश्वत मूल्यो: यथा मानव गरिमा, मानव सघर्ष, प्रेम इत्यादि की भी चर्चा करते हैं; कला इसी "मानवता के क्षण" को अभिव्यक्ति देकर देश-काल की सीमा लाघ जाती है।

उक्त स्थापना मे एक तरफ तो लूकाच की "सार्वभौम और विशेष" (यहा व्यक्तिक को छोड दिया गया है) की द्वन्द्वात्मक अन्विति की गूंज है तो दूसरी तरफ इसमे नव्य क्लासिकीय "शाश्वत मानव प्रकृति" जैसी अवधारणा की छाप भी है। किंतु लूकाच का सार्वभौम एक प्रक्रिया का 'क्षण' मात्र है इसलिए गतिशील है। विकास के साथ-साथ सार्वभौमिकता का कथ्य भी उच्चतर क्षणों मे वहां रूपांतरित हो जाता

है जबकि फिशर के यहा यह क्षरण अपरिवर्तनशील है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतक मैक्स रैफेल और हेस हेस ने यूनानी साहित्य से संबधित मार्क्स की अवधारणा को रूमानी माना है। दोनो ही विद्वानो ने मार्क्स द्वारा सुझाये गये उत्तर को अपर्याप्त ही नही बल्कि गलत करार दिया है। हेस का तर्क है कि प्राचीन कलाकृति, दर्शन अथवा सभ्यता के प्रति आकर्षण उनमे निहित किन्ही तत्त्वो के कारण नही अपितु सचेतन रूप से उनके इर्द-गिर्द निर्मित प्रभामडल की वजह से होता है—"मार्क्स की समझ में यह नही आया कि जिसे वे सहज आकर्षण (Charms) कहते हैं, वास्तव मे वह प्रतिष्ठा है और प्राचीन यूनान की यह प्रतिष्ठा—चाहे वह कला के क्षेत्र मे हो अथवा दर्शन के क्षेत्र मे—सचेतन कायम रखी गई है। खुद मार्क्स इस मान्यता के शिकार थे।" हेस के मतानुसार यूनानी अतीत का शाश्वत सम्मोहन एक लुभावना विचार भले ही हो, मार्क्सवाद नही है। उनके मार्क्सवादी शब्द-कोष मे "शाश्वत" शब्द का कोई अस्तित्व नही है। उनका मानना है कि व्यवस्थाए अपने सास्कृतिक प्रतिष्ठानो के जरिए अपने स्वार्थ मे अनेक प्रकार के प्रयोजनहीन एव बेमेल विचारो को कायम रखती हैं और उनकी सारयतता का भ्रम पैदा कर अपनी सारयतता का भ्रम भी पैदा करती है। किसी कलाकृति की सार्वकालिक प्रासंगिकता कायम नही रहती, कायम की जाती है।

नव वाम के बहुचर्चित आलोचक टेरी इगिल्टन का जिक्र करना भी यहा सगत ही होगा, जिनकी मान्यता है कि दाते की "द डिवाइन कॉमेडी" को महज उसके काव्यात्मक सौंदर्य के कारण ही देश-काल निरपेक्ष कृति कहना एक घिसी-पिटी बात होगी—"यह तर्क ऐसा ही हो जायेगा, जैसे यह कहना कि कोई कलाकृति इस कारण कालजयी है कि वह कलाकृति है।" इगिल्टन के अनुसार कलाकृति एक विचारधारात्मक संरचना है और विभिन्न स्थितियो मे उसकी सौंदर्यपरक उत्पादकता उसके "ठोस विचार समुच्चय" के कारण है। उनकी मान्यता है कि प्राचीन साहित्यिक कृतियो के प्रति आकर्षण के कारणो की समझ उतनी ही पेचीदा है जितना यह जानना कि हमें लोलाड्स[2] (Lollards) अथवा लुड्डाइट्स[3] (Luddites) आज भी क्यों मोहक लगते हैं?

इगिल्टन किसी साहित्यिक कृति के सार्वकालिक सौंदर्य को विभिन्न एतिहासिक स्थितियो के वैचारिक सदर्भों मे उसकी "वैचारिक पुनर्उत्पादकता" (Ideological

2. इग्लैंड का किसान आन्दोलन।
3. उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में एकाएक बढे औद्योगिकरण से बेरोजगार हुए छोटे कारीगरों द्वारा चलाया गया आंदोलन।

reproducibility) के निकष पर ग्रांकते है। इस संदर्भ में ब्रेख्त का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि ब्रेख्त को किसी कलाकृति के देश-काल निरपेक्ष जीवन के बारे में शका थी। ब्रेख्त के मतानुसार—"साहित्यिक कृतियो का जीवन, मरण एवं पुनर्जीवन विचारधाराग्रो के इतिहास का ही हिस्सा है।"

एक ग्रन्य मार्क्सवादी कलाचितक जेरेमी ग्रथर्न के ग्रनुसार काव्य की सार्वकालिक प्रासगिकता हमेशा पाठकीय सदर्भो मे ही जाची-परखी जानी चाहिए। ग्रगर किसी काव्यकृति की प्रासगिकता विभिन्न सामाजिक-ग्रार्थिक परिवेशो मे कायम है तो इसका ग्रर्थ यह नही कि हमेशा ही पाठकीय प्रतिक्रियाए भी एक-सी होगी। पाठकीय चेतना तथा काव्य चेतना के बीच एक सनातन द्वन्द्वात्मक वाक्-संवाद कायम रहता है: "ग्रतीत के साहित्य के प्रति हमारी प्रतिक्रिया, सामाजिक ग्राधार पर निर्भर हमारी चेतना तथा उस साहित्य को जन्म देने वाली ग्रतीत की चेतना के बीच बड़े जटिल सबध होते है। हैमलेट जैसी कृति प्रत्येक युग मे एक-सी पाठकीय प्रतिक्रिया पैदा नही करती बल्कि किसी युग विशेष की चेतना दूसरे किसी युग की चेतना से तुलनात्मक सदर्भो मे ही ग्रपनी समस्याग्रो की छान-बीन करती है।" इस प्रकार ग्रथर्न के ग्रनुसार ग्रतीत की साहित्यिक कृतिया ग्रागामी युगो के लिए सदर्भ बिंदु का काम करती है ग्रौर ग्रपने सामयिक परिवेश से ऊपर उठकर सार्वकालिक बन जाती है।

उपर्युक्त विश्लेषण के ग्रालोक मे रचना की सप्रेषणीयता व सार्वकालिक प्रासंगिकता के तीन विधायक तत्त्व समझे जा सकते हैं कृति मे जीवन के कमोवेश शाश्वत तत्त्वो की द्वन्द्वात्मक पकड, भावयोजना मे पाठक की निजी स्थिति की झलक व कृति का ग्रपना विशिष्ट रूप-विधान। रचना के शाश्वत तत्त्व को जानने के लिए मानव जीवन के दो भिन्न पक्षो—जैवकीय व सामाजिक—पर हमे गौर करना होगा। जन्म, बचपन, जवानी, यौन सबध, प्रजनन, मृत्यु इत्यादि मनुष्य प्रजाति के जैवकीय पक्ष हैं जो सनातन हैं। किंतु 'मानवता' के संदर्भ सामाजिक हैं, जैवकीय नही। मनुष्यो द्वारा ग्रपने पोषण एव सुरक्षा के लिए किए गये सतत् संघर्ष के दौरान सामाजिक-ग्रार्थिक सबध विकसित हुए व इस सबध-जाल के इर्द-गिर्द फिर स्वीकृतिया, निषेध, नैतिकताएं, मानवीय मूल्य, दर्शन इत्यादि का गुंजलक विकसित हुग्रा। समाज का वैचारिक पक्ष ग्रब उसके जैवकीय पक्ष से कमोवेश ग्रलग हुग्रा ग्रौर इसके विकास के पीछे एक स्वतत्र तर्क ग्रारभ हुग्रा। इस प्रकार मनुष्य प्रजाति ने ग्रन्य प्राणी प्रजातियो से इतर ग्रावश्यकताग्रो एवम् सरोकारो को जन्म दिया जिनमे मनुष्य के विकास के साथ-साथ गुणात्मक परिवर्तन ग्राया ग्रौर एक निश्चित स्तर के बाद ये प्राथमिक-से दीखने लगे।

प्रजनन, यौन संबंध, मृत्यु इत्यादि के प्रति अब अनुष्य की अनुभूतिया एवम मनोभाव बदले। यौन संबधो का प्रजातिक खुलापन प्रेम और सगीत के भालर से ढापा गया। प्रजनन अब जैवकीय क्रम बनाए रखने की यथातथ्य प्राकृतिक जरूरत ही नही रह गई सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा व मिल्कियत के प्रश्न भी उससे आ जुड़े। मनुष्य के इर्द-गिर्द लिपटी ये नयी अनुभूतिया एक सीमा के बाद चूंकि तात्कालिक व महत्त्वपूर्ण-सी दीखने लगी, अतः प्रेम-घृणा, हर्ष-विषाद, सघर्ष-शाति जैसे भाव सृजन के केंद्रीय तत्त्व बन गये। जिस रचना ने इन तत्त्वो की द्वन्द्वात्मक गत्यात्मकता को जितनी ही समग्रता से रूपायित किया, उसके कालजयी होने की समावनाए भी उतनी ही अधिक रही।

प्रत्येक युग का पाठक अपने युग की सगतियो-विसगतियों के बीच जीते हुए ही रचना से तदनुरूप तादात्म्य स्थापित करता है, जिसे हम प्रचलित तौर पर साधारणी-करण कहते हैं। इस साधारणीकरण मे पाठक की परिवेशगत निजी स्थिति का भी योगदान होता है। उदाहरणार्थ ईश्वर व शैतान के बीच युद्ध को अभिव्यक्त करते हुए भी मिल्टन का "पैराडाइज लोस्ट" मुझे अभिभूत नही कर पाता जबकि रामचरित मानस मे वह सम्मोहन मै महसूसता हूं। "पैराडाइज लोस्ट" मे वर्णित "ईश्वर" व "शैतान" की लडाई जिसे ईश्वर शारीरिक शक्ति के बजाय अपने वज्र की ताकत से जीतता है – मेरे निजी परिवेश मे निहित विसगतियो व उनसे उत्पन्न संघर्षो से सर्वथा भिन्न है। "ईश्वर" की निरकुश सत्ता के खिलाफ लडते "शैतान" के प्रति सहानुभूति उमडती है लेकिन फिर वह मेरी सस्कारगत अपनाई गई ईश्वरीय धारणा से टकरा जाती है। इस महाकाव्य के पात्रों से कोई सीधा मानवीय रिश्ता भी मैं नही महसूस पाता। ठीक इसमे उलट स्थिति रामचरित मानस के साथ है। यहा भी सघर्ष का मूल स्वर ईश्वर व शैतान के बीच का संघर्ष ही है, किंतु जिन स्थितियो-परिस्थितियो के बीच यह संघर्ष रूप लेता है वे स्थितिया जानी-पहचानी ही नही, पारिवारिक सबधो की ऊष्मा से भी सिक्त हैं। यहा मेरे लिए परिवेशगत साम्य है जो किसी यूरोपीय पाठक के लिए शायद समव न हो। हालाकि पारिवारिक प्रासगिकता से इतर आज की सामाजिक विसगतियों के संदर्भ मे दोनो ही महाकाव्यो मे विचारधारात्मक पुनर्उत्पादकता की पूरी सभावनाएं है और इसीलिए इनमे देश-काल निरपेक्ष प्रासगिकता एवम् सप्रेषणीयता के बीज भी निहित है। क्रिस्टोफर कॉडवेल का यह कहना कि "काव्य पाठकीय प्रतिक्रिया मे ही निहित है", यहा बहुत दूर तक सच दीख पड़ता है।

पाठक की इसी परिवेशगतता को लक्ष्य कर अंग्रेजी साहित्य के विख्यात आलोचक जार्ज स्टाइनर ने कहा है—"प्रत्येक पीढी अपनी रचनाओं का चयन खुद

करती है।" द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व फ्रांस में वर्जित महाकाव्य एनीड (Anied) अपनी सार्थकता खो चुका था, लेकिन युद्ध के दौरान नाजियों की यातना से संत्रस्त फ्रांसीसी बुद्धिजीवी के लिए यह महाकाव्य फिर एकाएक प्रासंगिक हो उठा। अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपीयर के साथ भी यही हुआ। अपनी मृत्यु (1616) के करीब अर्द्धशताब्दी के भीतर ही पुनर्स्थापन (1660) के बाद के बुद्धिजीवियों के लिए शेक्सपीयर पहेली बन गये और उनकी कृतियों मे संशोधन की जरूरत महसूस की गई, ऐसे प्रयास हुए भी। यह स्थिति करीब सौ वर्ष तक बनी रही। वाल्तेयर व टॉलस्टॉय द्वारा शेक्सपीयर की रचनाओं पर की गई टिप्पणियां भी सुविख्यात हैं। यानी हर युग व जाति ने शेक्सपीयर को अपने चश्मे से देखा। शेक्सपीयर के नाटकों के प्रति आदिवासी दर्शकों की प्रतिक्रिया जानने हेतु लौरा बोहन्ना ने एक गंभीर सर्वेक्षण किया। आदिवासियों के बीच उन्होंने शेक्सपीयर के श्रेष्ठ नाटक हेमलेट की रंगमंचीय प्रस्तुति दी। इन दर्शकों को यह नाटक बेतुका-सा लगा। इस बात पर भी आदिवासी दर्शकों को हैरानी हुई कि हेमलेट की मां ने यदि अपने पति की अकाल मृत्यु के बाद पति के छोटे भाई से विवाह कर भी लिया तो इसमे हेमलेट के लिए बेचैन होने और पागलपन की सीमा तक पहुंच जाने की कौनसी बात थी? यह सब इसलिए हुआ कि इस कबायली समाज में ऐसे विवाह प्रचलन मे थे। इस उदाहरण से जाहिर है कि पाठकों की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियां भी रचना की प्रासंगिकता मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

रचना की सम्प्रेषणीयता व उसकी प्रासंगिकता मे योग देने वाला तीसरा महत्त्वपूर्ण घटक उसका रूप-विधान है। उपयुक्त रूप-विधान वह है जो रचना में वर्णित विभिन्न स्थितियों तथा उनमे उत्पन्न संवेदनाओं एवं विचारों को एक ऐसी योजनाबद्ध संरचना देता है, जो पाठकों में उसी तीव्रता व सघनता के साथ उन्हें संप्रेषित करने की क्षमता रख सके। पाठकीय संस्पर्श मे आये बिना यह रूप-विधान सुसुप्तावस्था में रहता है, किंतु जैसे ही वह पाठकीय संस्पर्श मे आता है, स्पंदन होता है और उसका सामाजिक-साहित्यिक जीवन प्रारंभ होता है। रचना व पाठक के बीच का सहज-सार्थक संवाद ही रचना की सम्प्रेषणीयता की पहचान है। यहां आर्किबाल्ड मैक्लीश की यह उक्ति कि "काव्य इसके अर्थ मे नही कलाकृति में ही निहित है", एक अतिशयोक्ति ही ठहरेगी।

संक्षेप मे, रचना की सार्वकालिक संप्रेषणीयता व उसकी प्रासंगिकता का महत्त्वपूर्ण आधार उपर्युक्त तीनों मे से कोई एक नही बल्कि उनकी त्रयी (Triadity) ही है।

आधुनिकता का सही स्वरूप

●

देवेश ठाकुर

'आधुनिकता' को व्याख्यायित करना वस्तुतः सरल नही है क्योंकि यह सतत गतिशील है, परिस्थिति तथा परिवेश से संपृक्त है और परंपरा से जुडी होने के साथ-साथ उससे मुक्त भी है। फिर भी 'आधुनिकता' के अंतर्गत जिस भाव-विशेष की निहिति है, उससे इसके स्वरूप की दिशा का कुछ-कुछ ज्ञान अवश्य हो जाता है। आधुनिकता मूलतः व्यक्ति के चिंतन-पथ से उद्भूत वह मानसिकता है जो अपने स्वरूप में सतत प्रगतिशील है अर्थात सदा आगे की ओर गतिवान होने की अनिवार्यता से प्रतिश्रुत है। गतिशीलता की अनिवार्यता के परिणामस्वरूप अलग-अलग काल-खडो, परिस्थितियो और परिवेशो के बीच आधुनिकता के भाव-बोध मे परिवर्तन-परिवर्द्धन होता चलता है। हम इस भाव-बोध को यो समझें—कभी पापाण अस्त्रो की खोज भी 'आधुनिक' रही होगी, कभी खेती-बाड़ी का आविष्कार भी 'आधुनिक' रहा होगा; कभी मध्य-युग का चिंतन भी 'आधुनिक' कहा जाता रहा होगा; लेकिन आज तक आते-आते ये सारी खोजें और स्थितियां आज की 'आधुनिकता' से बहुत पीछे की बात हो गयी है। व्यक्ति का वैशिष्ट्य उसके चिंतन पक्ष की गतिशीलता, तीव्रता और प्रभावशालिता से प्रतिष्ठित और संपन्न होता है। उसका चिंतन पक्ष ही आधुनिकता के भाव-परिवर्तन और परिवर्द्धन को प्रेरणा और पोषण प्रदान करता है, जिससे अतत समग्र सामाजिक जीवन में 'नयी आधुनिकता' का उदय और विस्तार होता है। यह क्रम चलता रहता है और व्यक्ति की अथक नित-नवीन चिंतना के साथ-साथ आधुनिकता के रंग और वेश बदलते रहते हैं। इस प्रकार आज जो कुछ आधुनिक है, आवश्यक नही कि कल भी वह आधुनिक रह जाये। यह विकास प्रक्रिया आधुनिकता का एक प्रमुख तत्त्व है।

'वादात्मक' खोल पहनाने का प्रयास भी किया जाता है। यह भी गलत है। 'वाद' बनाने से भी ग्राधुनिकता की गति अवरुद्ध होती है—ग्राधुनिकता अपने सही रूप मे एक प्रक्रिया ही है और प्रक्रिया निरंतर गतिशील होती है। इस प्रकार ग्राधुनिकता वैज्ञानिक दृष्टि से प्रसूत एक सतत गतिशील प्रक्रिया है जो सर्वदा नयी सवेदनाओ, नयी विचार भूमियों और नये जीवन सदर्भो को अर्थ देती हुई चलती है।

ग्राधुनिकता की भाति जीवन का प्रवाह भी सतत गतिशील है। परिवर्तन सृष्टि का सहज-नियम है। यह सहज नियम ही व्यक्ति-जीवन की स्थूल और अन्तरग आवश्यकताओं, स्थितियो, परिवेशो और मान्यताओ मे परिवर्तन लाता चलता है। इन परिवर्तनों को जीवन दृष्टि के रूप मे ग्रहण करने की प्रक्रिया ही ग्राधुनिकता है। व्यक्ति जीवन और सामाजिक जीवन मे घटनाओ की बहुलता होती है। घटना-क्रम एक चले आते हुए क्रम मे परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तनों की यह प्रक्रिया जीवन को प्रभावित करती हैं। इन परिवर्तनों के अनुकूल जीवन-चक्र को ढालने का प्रयास करना ही ग्राधुनिक होना है। ग्राधुनिकता अमूर्त है अवश्य, लेकिन उसे व्यक्ति जीवन के स्थूल व्यवहारो, उसकी मानसिकता, उसके सोच और चिंतन मे स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। अंग्रेजो के प्रभाव मे आने से उदारवादी सुधारको मे जो दृष्टि-परिवर्तन हुआ उसमें ग्राधुनिकता के तत्त्व खोजे जा सकते हैं। ग्राधुनिकता हमेशा यथार्थ की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है। और जब यथार्थ की स्थिति ग्राधुनिकता के लिए आवश्यक है तब अपनी मिट्टी और संस्कृति की बात भी ग्राधुनिकता के सदर्भ मे महत्त्वपूर्ण बन जाती है। हर देश और समाज की अपनी एक विशिष्ट सस्कृति होती है जो उसकी मिट्टी में से ही उभरती है। अत ग्राधुनिकता का तत्त्व कही-न-कही परिवेश की मिट्टी और संस्कृति से भी जुड़ा होता है। विदेशी तत्त्वो को, जब तक यह मिट्टी आत्मसात नही कर लेती, तब तक विदेशी ग्राधुनिकता उस देश की ग्राधुनिकता नही बन सकती। और ऐसी विदेशी ग्राधुनिकता को सायास प्रतिष्ठित करने का प्रयास भोडा हास्य और प्रदर्शन बन कर रह जाता है—स्थूल रूप से भी और अतरग दृष्टि से भी। वास्तविक और सही ग्राधुनिकता जीवन की यथार्थ स्थिति तथा परिवेश की परपरा, मिट्टी और सस्कृति से सपृक्त होती है। यदि यह सपृक्त नही है तो आयातित 'ग्राधुनिकता' ओढी हुई होने के कारण न तो जीवन की सहज प्रक्रिया से समन्वित हो पाती है और न जीवन को गतिशील बनाने मे ही उसका कुछ योग निश्चित हो पाता है। उल्टे उससे जीवन में सभ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है और ऐसी ग्राधुनिकता अधकचरे सोच वाले चिंतको—कलाकारो का विलास मात्र बन कर रह जाती है।

किन्तु जब हम 'विकास' की बात कहते हैं तो उसमें कहीं परंपरा से जुड़े रहने और साथ ही उससे मुक्त होकर एक नवीन स्वरूप ग्रहण करने की ध्वनि भी व्यजित होती है। इस नवीन स्वरूप की ग्रहणता को परपरा के परिप्रेक्ष्य मे ही आका और जाना जा सकता है। इस दृष्टि से आधुनिकता सापेक्षिक भी है। दूसरे शब्दो में, इसे परपरा से विच्छिन्न करके नही देखा जा सकता—ठीक ऐसे ही जैसे किसी अच्छाई को बुराई से अलग करके प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। कोई वस्तु या भाव इसलिए अच्छा है क्योंकि दूसरा भाव बुरा है। यह एक सापेक्षिक स्थिति है। आधुनिकता इसी अर्थ मे आधुनिक है कि वह परपरा अथवा प्राचीन, से भिन्न है। लेकिन भिन्न होते हुए भी उससे जुड़ी हुई है। आधुनिकता को समझने के लिए उसके परपरा से जुड़ी होने और साथ ही उससे भिन्न होने की स्थिति और सत्य को समझना बहुत आवश्यक है। इसके साथ-साथ यह समझना भी आवश्यक है कि आधुनिकता एक ऐसी प्रक्रिया है जो परंपरा से आगे की ओर, विकास और वर्द्धन की ओर उन्मुख होती है। और प्रकृति में हमेशा इसी विकास और वर्द्धन की प्रक्रिया चलती आयी है और इसीलिए प्रत्येक अगला युग अपने पिछले युग के अनुभवो और मानसिकता से पोषित होता हुआ भी, उससे अधिक गतिशील वैचारिकता का वाहक होता है—यही गतिशीलता आधुनिकता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है क्योंकि यह मानव मस्तिष्क की खोज है और चूकि मानव का सोच कभी विश्राम नही लेता, इसलिए आधुनिकता का भाव भी कभी स्थिर नहीं हो पाता। अस्थिर अर्थात् सतत गतिशील भाव को कुछ निश्चित शब्दो मे बाधने या पकडने का अर्थ उसे जड बनाने का गलत प्रयास करना होगा। इसलिए आधुनिकता को हमे इस जीवन-चक्र के मध्य एक अर्ध-विराम (,) के सदृश समझना चाहिए, इस पर कभी भी पूर्ण-विराम नही लग सकता। पूर्ण विराम लगाने का अर्थ इस की सहज सतत गतिशील प्रक्रिया मे अवरोध उत्पन्न करने का प्रयास करना होगा।

सामान्यतः आधुनिकता को बाह्य साक्ष्य के आधार पर रेखांकित किया जाता है। बाह्य साक्ष्य से तात्पर्य है—रहन सहन, खान-पान, आदि। किन्तु यह आधुनिकता का स्थूल-स्वरूप है। आधुनिकता का वास्तविक तात्पर्य होता है विज्ञान-प्रसूत दृष्टि से। आधुनिकता वस्तुत. एक दृष्टि है जो वैज्ञानिक प्रक्रिया से विकसित होकर व्यक्तित्व और चिंतन के विकास की सूचक बनती है। कई अवसरो पर आधुनिकता को एक दर्शन के रूप मे ग्रहण करने की भी गलती कुछ लोग करते है। लेकिन दर्शन की एक निश्चित स्थिति होती है। और निश्चितिकरण आधुनिकता का विलोम है। आधुनिकता को दर्शन की अपेक्षा दृष्टि मानना ही संगत है। इसी प्रकार कभी-कभी आधुनिकता को

'वादात्मक' खोल पहनाने का प्रयास भी किया जाता है। यह भी गलत है। 'वाद' बनाने से भी आधुनिकता की गति अवरुद्ध होती है—आधुनिकता अपने सही रूप में एक प्रक्रिया ही है और प्रक्रिया निरतर गतिशील होती है। इस प्रकार आधुनिकता वैज्ञानिक दृष्टि से प्रसूत एक सतत गतिशील प्रक्रिया है जो सर्वदा नयी सवेदनाओ, नयी विचार भूमियो और नये जीवन सदर्भों को अर्थ देती हुई चलती है।

आधुनिकता की भाति जीवन का प्रवाह भी सतत गतिशील है। परिवर्तन सृष्टि का सहज-नियम है। यह सहज नियम ही व्यक्ति-जीवन की स्थूल और अन्तरंग आवश्यकताओं, स्थितियो, परिवेशों और मान्यताओ मे परिवर्तन लाता चलता है। इन परिवर्तनों को जीवन दृष्टि के रूप मे ग्रहण करने की प्रक्रिया ही आधुनिकता है। व्यक्ति जीवन और सामाजिक जीवन मे घटनाओं की बहुलता होती है। घटना-क्रम एक चले आते हुए क्रम में परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तनो की यह प्रक्रिया जीवन को प्रभावित करती है। इन परिवर्तनों के अनुकूल जीवन-चक्र को ढालने का प्रयास करना ही आधुनिक होना है। आधुनिकता अमूर्त है अवश्य, लेकिन उसे व्यक्ति जीवन के स्थूल व्यवहारो, उसकी मानसिकता, उसके सोच और चिंतन मे स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। अंग्रेजो के प्रभाव में आने से उदारवादी सुधारको मे जो दृष्टि-परिवर्तन हुआ उसमे आधुनिकता के तत्त्व खोजे जा सकते हैं। आधुनिकता हमेशा यथार्थ की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है। और जब यथार्थ की स्थिति आधुनिकता के लिए आवश्यक है तब अपनी मिट्टी और सस्कृति की बात भी आधुनिकता के सदर्भ मे महत्त्व-पूर्ण बन जाती है। हर देश और समाज की अपनी एक विशिष्ट सस्कृति होती है जो उसकी मिट्टी मे से ही उभरती है। अतः आधुनिकता का तत्त्व कही-न-कही परिवेश की मिट्टी और सस्कृति से भी जुडा होता है। विदेशी तत्त्वों को, जब तक यह मिट्टी आत्म-सात नही कर लेती, तब तक विदेशी आधुनिकता उस देश की आधुनिकता नही बन सकती। और ऐसी विदेशी आधुनिकता को सायास प्रतिष्ठित करने का प्रयास भोडा हास्य और प्रदर्शन बन कर रह जाता है—स्थूल रूप से भी और अतरग दृष्टि से भी। वास्तविक और सही आधुनिकता जीवन की यथार्थ स्थिति तथा परिवेश की परपरा, मिट्टी और संस्कृति से सपृक्त होती है। यदि यह सपृक्त नही है तो आयातित 'आधुनिकता' ओढ़ी हुई होने के कारण न तो जीवन की सहज प्रक्रिया से समन्वित हो पाती है और न जीवन को गतिशील बनाने में ही उसका कुछ योग निश्चित हो पाता है। उल्टे उससे जीवन में संभ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है और ऐसी आधुनिकता अधकचरे सोच वाले चिंतको—कलाकारों का विलास मात्र बन कर रह जाती है।

कला के त्रिपार्श्व द्वारा इतिहास की व्याख्या

●

रमेश कुंतल मेघ

ऐतिहासिक भौतिकवादियो, नृतत्वशास्त्रियो तथा समाजशास्त्रियों ने ऐतिहासिक दशाओ के माध्यम से कला की सामाजिक व्याख्याओं की परंपरा जारी रखी। लेकिन कुछ 'कलावादी' समाजशास्त्रियों ने प्रासगिक रूप से कला-प्रिज्म के माध्यम से इतिहास की सौंदर्यबोधवादी व्याख्याए प्रस्तुत की जिनमे फ्लिंडर्स पेट्री, पाल लाइगेटी, वी० डी० लाप्रेद, डेनिलेवस्की (1822-1855), फ्रैंक चैंबर्स, वाल्दिमार डियोना आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा स्पेंग्लर, टायनबी, सोरोकिन आदि ने भी एक बृहत् पर इसी तरह का अधिक समर्थ कार्य किया है। मूलत. यह धारा हीगेलीय आदर्शवादी द्वंद्वमान की एक भावात्मक अन्विति है जो भौतिक आधारो से निर्वासित (Alienated) है। इसके अंतर्गत कला का उद्भव आत्मचैतन्य (Spirit) के कालानुरूप आत्मसाक्षात्कार करने की प्रक्रिया है, अर्थात् विचार (Idea) ही देशकालपरक इतिहास के नियता है।

इन अधिकाश कलावादियो के मूल स्रोत हीगेलीय हैं। अतः हीगेल की कला व्यवस्था के मूल सिद्धातो को दुहराना यहा समीचीन होगा '

आत्म (Spirit) या प्रत्यय (Idea) के कालानुरूप आत्मसाक्षात्कार करने की प्रक्रिया मे ही कला का उद्गम सन्निहित है। इस प्रक्रिया की तीन अवस्थाएं (Stages) और तद्नुरूप तीन कोटिया (Types) है,

पहली अवस्था और पहली कोटि प्रतीकात्मक (Symbolic) है। इसमे मूत (Matter) प्रत्यय या विचार (Idea) पर हावी होता है तथा प्रत्यय या विचार

ऐंद्रियिक रूपों मे पर्याप्त अभिव्यक्ति नही पाता। इसकी परिणति वास्तुशास्त्र में होती है;

दूसरी अवस्था और दूसरी कोटि क्लासिकल (Classical) है। इसमें विषय वस्तु (Content) एवं रूप (Form) की पूर्ण एकता होती है। इसकी परिणति शिल्पशास्त्र मे होती है; तथा

तीसरी अवस्था और तीसरी कोटि रोमांतिक (Romantic) है। इसमें प्रत्यय या विचार भूत पर हावी हो जाता है अर्थात् क्लासिक की एकता भग होती है तथा प्रतीकात्मक का प्रतिपक्ष हो जाता है। इसकी परिणति चित्रकला, संगीतशास्त्र और काव्य में होती है।

ये तीन अवस्थाए और कोटिया अपनी तद्‌नुरूप कलाओं की ही नही होतीं बल्कि प्रत्येक कला को भी इन तीनों—प्रतीकात्मक, क्लासिकल एव रोमांतिक अवस्थाओं से होकर गुजरना लाजिमी है। उदाहरण के लिए प्रतीकात्मक वास्तुकला की कोटि को भी क्रमश. प्रतीकात्मक, क्लासिकल एवं रोमातिक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इस तरह हीगेल ने अवस्थाओ एव कोटियो के क्रम को एक परम नियम बना दिया है जिसका आधार वाद-प्रतिवाद समन्वय है। लेकिन यहां रेखांक (लाइनियर) क्रम भी गुंथा है :—
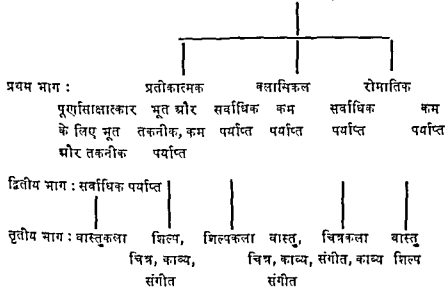
हीगेल के अनुसार पहली कोटि (वास्तु) का उत्कर्ष मिस्री, चीनी तथा भारतीय कला मे, दूसरी (शिल्प) का विशेषत यूनानी कला मे तथा तीसरी (चित्र, सगीत, काव्य) का स्वकालीन यूरोप मे। हीगेल ने इस धारणा में सस्कृति तथा शैली, दोनो को भी सबद्ध किया है जिसका उपयोग नृतत्वशास्त्री क्रोबर ने किया। अपने प्रतिभासिक विश्वास के कारण हीगेल ने इन परिकल्पी अवस्थाओं को ऐतिहासिक मानकर वास्तविक ऐतिहासिक अवस्थाओ को नजरअदाज कर दिया।

इसी परंपरा मे कलावादी समाजशास्त्रियो ने भी दो क्रम रचे :

(क) कला-संघटनाओं (Art-phenomena) के विकास तथा प्रमुमन का कोई एकरूप (Uniform) क्रम और

(ख) इस क्रम के माध्यम से सामाजिक –सांस्कृतिक घटनाओ के परिवर्तन का भी तद्नुरूप एकरूप क्रम।

इन्होने इसी संदर्भ मे दो बुनियादी सवाल उठाये : (अ) क्या सभी सस्कृतियो मे कलाओ के विकास एव प्रसूमन का कोई एकरूप क्रम होता है ? यदि है, तो —

(ब) क्या हम इन नियमो के द्वारा इतिहास की सघटनाओ की सौंदर्यबोधवादी व्याख्या कर सकते हैं ?

इस धारा के अतर्गत सबसे पहले डेनिलेवस्की को लिया जा सकता है क्योंकि वे हीगेलीय चक्र से मुक्त तथा पूर्व-डार्विनवादी जीवशास्त्र से बद्ध है। अत वे सक्रमण की एक अच्छी मिसाल पेश करते हैं।

डेनिलेवस्की ने 'सस्कृति' के बजाय 'सास्कृतिक-ऐतिहासिक टाइपो' (Culture-historical types) या सभ्यताओं के अतर्गत इतिहास, सभ्यता और सस्कृति का समाहार किया। उन्होंने प्रत्येक संस्कृति की मौलिकता और व्यक्तिक विशेषता को अक्षुण्ण माना है। प्रत्येक सस्कृति के सगठन की एक आधारभूत योजना (Basic plan) तथा एक आधारभूत सिद्धांत (Basic principle) होता है जो उन्हें अन्य टाइपो से पृथक करता और रखता है। वे यह मानते है कि जीवधारी मनुष्यो की तरह सस्कृतियो का भी जीवन-क्रम होता है और उनकी दीप्ति केवल कुछ शताब्दियों तक ही रहती है। इसके पश्चात वे रिक्त होकर हमेशा के लिए मर जाती हैं। डेनिलेवस्की संस्कृति को शैली या समाज की अपेक्षा जाति से जोडते है। जातियों के आर्कटाइप ही मानो 'जातीय सामग्री' (Ethnographic material) है। अत. उनके अनुसार प्रत्येक

प्रधान सभ्यता मौलिक, विलक्षण और अघुलनशील होती है जिसका निर्माण आधारभूत योजना के अनुसार होता है। यह धारणा विकासवादी डार्विनवाद के पूर्ववर्ती जीवशास्त्र के सादृश्य पर विकसित हुई है। दूसरे, इन सभ्यताओं का जीवन सीमित होता है और वे एक दूसरे को स्थानापन्न करती हैं। यह धारणा साम्राज्यों के उत्थान और पतन के प्रबोध से संचालित है। तीसरे इन सभ्यताओं के विशेष गुणों तथा सामान्य गुणों के आधार पर इतिहास का व्यापक अभिज्ञान हो सकता है।

डेनिलेवस्की सभ्यताओं को नियन्त्रित करने वाले कई नियमों का भी विधान करते हैं। पहले नियम के अनुसार प्रत्येक जाति एक भाषा या भाषा-समूह के द्वारा संस्कृति का उन्नयन करती है। दूसरे के अनुसार प्रत्येक जाति की वंशीय विशेषताओं के अनुसार उनकी संस्कृति की मौलिकता और विलक्षणता प्रकट होती है। तीसरे के अनुसार स्वतंत्र जाति ही संस्कृति का विन्यास कर पाती है। चौथे के अनुसार एक संस्कृति की आधारभूत योजना (Grundlagen) अ-हस्तांतरणीय होती है। यद्यपि अन्य संस्कृतियों से वह प्रभावित अवश्य होती है। तथा, पांचवें नियम के अनुसार इन संस्कृतियों के विकसित होने में लंबा समय लग सकता है किन्तु इनके फूलने का समय थोड़ा होता है। इसके बाद उनकी मृत्यु हो जाती है। इस धारणा के अनुसार वे संस्कृति-जीवन के तीन युग मानते हैं : प्राचीन युग में संस्कृति अपनी जातीय सामग्री से उत्थानित होकर अपना निश्चित स्वरूप प्राप्त करती है, मध्य युग में वह अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करती है, तथा प्रौढ़ता या उत्कर्षयुग में वह अपने मूल्यों तथा आदर्शों को प्राप्त करती है। इसके बाद या तो वह चीनी और हिन्दू संस्कृतियों की तरह एकांतिक (Solitary) होकर निर्जीव हो जाती है, अथवा यूनानी और मिस्री संस्कृतियों की तरह अन्य संस्कृतियों में संक्रमित (Transmitted) हो जाती है। डेनिलेवस्की प्रत्येक संस्कृति को एक आद्य प्रतीक भी प्रदान करते हैं : उदाहरणार्थ यूनानी संस्कृति का आधार सौंदर्य की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति था; चीनी संस्कृति का आधार व्यावहारिक उपयोगिता तथा भारतीय संस्कृति का आधार कल्पना एवं रहस्यवाद था। ये आद्य प्रतीक कालक्रम में घटते-बढ़ते रहते हैं।

रूसी डेनिलेवस्की मानव समाज के बजाय रूसी जाति के ऐतिहासिक अनुभवों तथा यंत्रणाओं का ही उदात्तीकरण करते हुए प्रतीत होते हैं। वे यूरोप के विरोध में रूस को प्रतिबद्ध करते हैं। अतः उनमें फ्रांसीसी तेन जैसा उन्मेष नहीं है। डेनिलेवस्की विश्वेतिहास की मानवता की भूमिका खोजने के बजाय जातियों की अन्तर्मुखी परिकल्पनाएं करते हैं। उनके अनुसार संस्कृति की उत्पत्ति मनुष्य, या सामाजिक समूह

या वर्ग न करके समग्र जातिया करती है। हूण, मगोल और तुर्क जातियों की ऐतिहासिक भूमिका मरणोन्मुख सस्कृतियो को जीर्ण-शीर्ण करना रही है। अतः ये नकारात्मक हेतु रही है। जर्मन तथा अरब जैसी जातियो ने नकारात्मक के साथ-साथ निर्माणात्मक सास्कृतिक कार्य भी किए है। इसके अलावा कुछ जातिया इन दोनो में से कोई भी भूमिका न निभाकर अकुरित होते ही मुर्झा गई। जातियो को सामाजिक परिस्थितियो तथा विकास के चरणो से काटकर देखने का डेनिलेवस्की का यह दृष्टिकोण संस्कृति को टाइप बनाने के साथ-साथ आदिम भी बना देता है।

डेनिलेवस्की की महत्ता इस बात मे है कि वे रूसी इतिहास में इतिहासतत्व (Histriology) खोज लेते हैं और रूसी-स्लाव जाति को भविष्य के इतिहास को नियामक मानकर सस्कृतियो को जातियों से जोड़ देते है। फिर भी, उनकी उत्थान-पतन वाली धारणा स्पेंगलर, टायनबी, क्रोबर आदि की स्थापनाओ का आधार बनी; सस्कृति के मूल तत्त्व की परिकल्पना हीगेलीय प्रवृत्ति-अवस्था चक्र मे भी फिट हो गई; तथा जातीय सस्कृति की धारणा नृतत्वशास्त्रियो के सास्कृतिक पैटर्नो को कलात्मक विवेक देने मे समर्थ हुई। उपर्युक्त कारणों से निकोलाई ई० मेनिलेव्स्की की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कुछ अगली बारीकियो को स्पष्ट करने के लिये हम क्रमभंग करके फ्लिडर्स पेट्री को लेते है। सन् 1911 मे प्रकाशित 'दि रिवोल्यूशन आफ सिविलाइजेशंस' नामक अपनी पुस्तक मे उन्होने अपनी स्थापनाएं की हैं। उन्होंने किसी एक प्रदत्त सस्कृति के बारे मे स्थापनाए करते हुए कहा कि उसमे सभी ललित कलाएं केवल एकसाथ फलती-फूलती ही नही, बल्कि अन्य की अपेक्षा कुछ अपने आदिम प्रारूपों से जल्दी से निकल कर एक मुक्त (Free) एव ललित (Fine) रूप की ओर भी बढ़ जाती है। प्रत्येक कला के आदिम प्रारूप से मुक्त एव ललित रूप मे परिपक्व विकास के अवधि-चरण होते है जिन की समयसीमा तो खीची नही जा सकती लेकिन चार चरण अवश्य तय किये जा सकते है। इस हिसाब से प्रथम चरण में वस्तुकला एव शिल्पकला, दूसरे मे चित्रकला, तीसरे मे साहित्य, तकनीक, सगीत, सैद्धांतिक विज्ञान, तथा अंतिम और चौथे चरण मे धन (Wealth) विकसित होता है। मिस्रसंस्कृतिवादी पेट्री ने अपनी मिस्री खोजो को ही भूमध्यसागरीय और यूरोपीय सभ्यताओ पर लागू कर दिया है। उनका क्रम-शिल्प, चित्र, साहित्य, तकनालोजी और धन—भी प्रामाणिक नही है। इन विकास-चरणो की संख्या तय करने का कोई सैद्धांतिक आधार नही है क्योकि ये चार से कम या ज्यादा भी हो सकते है। पेट्री ने प्रत्येक चरण मे जिन कलाओं के मुक्त एवं

ललित रूपो का निर्देशन किया है उनके क्रम का भी कोई तर्कसगत कारण नही दिया। इसके अलावा प्रत्येक कला के आदिम प्रारूप बनाम मुक्त एवं ललित रूप के बीच कोई फर्क नही बताया गया है। अत: केवल यूरोप—और कई विभिन्न सास्कृतिक इकाइयों मे बटे यूरोप—के आधार पर यह वैश्वक (Universal) स्थापना संसार की सभी संस्कृतियो पर लागू नही की जा सकती। हा, इस सिद्धात मे देशो के आधार पर विकास-क्रम नही प्रस्तुत किया गया है। पेट्री आदिम प्रारूप के बाद पहला ललित रूप वास्तुकला का मानते हैं।

व्लादिमार डियोना ने अपेक्षाकृत अधिक ठोस तथ्यो और प्रमाणो को इकट्ठा किया है। उन्होने माइनोअन, यूनानी तथा यूरोपीय शिल्प के समसंवादी चरणो की तुलना करते हुए आदिमवाद (Archaism), शास्त्रीयतावाद (Classicism) और ह्रास (Decadence) के क्रम को निरूपित किया है। वे वृद्धि के समानातर चरणों को मानने वाले हैं और इसके लिए उन्होने आदर्शवाद-यथार्थवाद की ध्रुवातता का अंतर्बोध किया है। डियोना ने केवल कला-शैलियो का नही, बल्कि सूक्ष्म विस्तारो का गहराई से परिचय दिया है। नेत्रो, कानो, मुखो, मुस्कानो, समभंग मुद्राओ, भंग मुद्राओ, निर्वसनता, वेश-भूषाओ, भगिमाओ, संवेगात्मकता, असंवेगात्मकता, भाववाद, भूचित्र की उपस्थिति और अनुपस्थिति आदि का वडा ही ललित सौंदर्यतात्विक विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि कलाकार के कौशल की कमियो तथा अनुभव की कमियों से Palcalithic, Neoeithic यूनीमानी (Greco-roman) तथा ईसाई चित्रकला शुरू हुई है। यह इनका आदिमवादी रूप है। इनका उत्कर्ष क्लासिक्ल युग मे हुआ तथा उसके वाद इनका ह्रास या अवनति शुरू हुई। ई०पू० पाचवी शती के यूनानी शिल्प और पूर्व वारहवी तथा वारहवी शती के शिल्प के बीच, पाचवी शती के यूनानी तथा तेरहवीं शती के यूरोपीय, चौथी से चौदहवी शती के यूनानी और तीसरी शती की हैलेनिक कला के बीच उन्होने समसंवाद ढूंढा है। इस भाति शताब्दियो के मध्यांतरो की दूरी से पृथक कलाओ मे वे रेखांक विकास के स्थान पर निश्चित तात्पयुक्त विकास को स्वीकार करते हैं। इस विकास मे तादात्म्य के वजाय सादृश्य ही प्रधान है। उन्होंने अपनी इस योजना को शंखवृत्तात्मक (Spiral-like) कहा है जिसमें कोई भी वृत्त दूसरे को न छूकर भी किसी भी अन्य वृत्त से जुड जाता है। डियोना का यह अध्ययन वाल्फिलिन के शैलीगत अध्ययनो से तुलनीय है।

इस भूमिका मे हम पाल लाइगेटी की स्थापनाओ को ले सकते हैं। सन् 1926 मे हंगरी निवासी कलावादी ने कला-संस्कृति में दोलनों(Oscillations)की सत्ता पाई जिन्हे

उन्होंने तरंगें (Waves) कहा। सन् 910 से 1910 तक उन्होंने मात उर्मियों को प्राप्त किया जिनमे 120 से 170 वर्षों का तरंगदैर्घ्य है और जिनका औसत 140 वर्षों का है। एक वैज्ञानिक रूपक का व्यवहार करके लाइगेटी ने बताया कि पहली तीन तरगो मे रोमोनेस्क और गोथिक कला शामिल हैं, बाद की ढाई तरगो मे रेनेसा और बैरोक कला, तथा अंत की डेढ तरगो मे रोकोको, क्लासिसिज्म, रेनैसांवाद और इप्रेशनिज्म शामिल हैं। लाइगेटी ने थोडा व्यापक फलक चुना। उन्होंने केवल यूरोपीय ही नही, यूनानी एव मिस्त्री कलाओ का भी आधार लिया। उन्होने पेट्री सम्मत वास्तु-शिल्प-ऐक्य को तोडकर वास्तु-शिल्प-क्रम को विकसित किया। उनके अनुसार 'प्रत्येक सस्कृति की शुरुआत वास्तुकला मे और अवसान चित्रकला से होता है।' लाइगेटी ने पेट्री की कलासख्या मे कमी की तथा हीगेलीय वास्तु-चित्र-समन्वय रूप शिल्प को अलहदा किया। उन्होने हीगेलीय अवस्था-त्रय के स्थान पर जैविक क्रम का अनुप्रवेश कराया जो आरम-प्रौढता-जरा की त्रयी है। अतः कलाएं मानवीय विकास के अनुरूप ढल गई वास्तुकला (शैशव), शिल्प (प्रौढता) और चित्र (जरा) के क्रम मे। यह स्थापना कवित्वपूर्ण लेकिन अवैज्ञानिक है। यही प्रयोग स्पेंग्लर ने भी किया है। इस रूढ यान्त्रिकता को उन्होने सभी महान सस्कृतियो के लिए शाश्वत नियम बना दिया। चित्रकला को ह्रासावस्था के साथ जोड़कर भी लाइगेटी ने दूरदर्शिता नही दिखाई। पहले मनुष्य को रहने के लिए शक्ति, श्रम-सुरक्षा और साघन की जरूरत ज्यादा थी और ये साधन प्रारंभिक थे। अतः वास्तु का रूपांतरित होना स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु चित्रकला का विकास और उत्कर्ष तो मानव एवं प्रकृति की सुरक्षा तथा कांत मैत्री की देन है तथा विकसित संस्कृति की उपज है क्योंकि रंगों का ज्ञान तथा रासायनिक लेपो का अनुसधान एक उच्चतर तकनीकी उपलब्धि होती है। यही नहीं, अगर लाइगेटी के अनुसार सभी सस्कृतियों को एक साथ लिया जाय अर्थात् विश्व-सस्कृति की इकाई की जाय, तो भी समयक्रम में यही एकरूपता पाई जाएगी। अतः वे यान्त्रिक निश्चयवाद (Mechanical determinism) मे उलझ जाते है। उन्होने शैशव सस्कृतिया (मिस्र), प्रौढ सस्कृतिया (यूनान और रोम) तथा जीर्ण संस्कृतिया (आधुनिक) भी परिकल्पित की। अतः वास्तु (शैशव), शिल्प (प्रौढता) और चित्र (जरा) के साथ इन्हे भी जोडा। उन्होंने इस नितात सीमित संयोग को भी स्वेच्छापूर्वक अनुकूल सस्कृतिया चुनकर लागू किया। जबर्दस्ती एक नियम बनाने के रुझानो से सचालित लाइगेटी बहुत ज्यादा उलझे हुए हैं। विभिन्न शैलियो के असंवादी (Non-corresponding) चरणों मे भी स्वतत्र रूप से कई समान गुणो का सवाद तो होता है किन्तु यह अप्रासगिक (accidental) ही है। किन्तु विकास या वृद्धि के ढाचे के

जन्मजात गुणों की वजह से जब शैलीगत सहसंवाद होते हैं तब उनमे नियम का प्रतिभास हो सकता है । असंख्य एव बहुविध समानांतर दृष्टांतों को एकत्र करने पर ही ऐसा कोई नियम या न्याय सोचा जा सकता है (अगर वे दृष्टांत परस्पर आश्रित न हों)। स्वयं लाइगेटी ने ही इम्प्रेशनिज्म के गुणों का अनुशीलन करते हुए बताया है कि यूरोप मे उन्नीसवी शती की चित्रकला के उत्तरार्द्ध मे उदित होने वाले वे गुण स्वतंत्र रूप से पंद्रहवी शती के जापानी चित्रकार शेशू के चित्रों में भी विद्यमान थे । अतः गुणों में सादृश्य का अभिज्ञान अपेक्षाकृत आसान है, सांस्कृतिक पैटर्नों के अंतर्विरोधों को समझे बिना ऐसी स्थापनाएं परिकल्पी (Speculative) ही रह जाती हैं ।

वी० द लाप्रेद ने भी इसी भांति की परिकल्पनाएं की हैं । उन्होंने हीगेल तथा लाइगेटी की भूमि पर कुछ संशोधन जरूर किया है लेकिन वे भी हीगेलीय प्रतिभासिक पूर्वाग्रहों से विमुक्त नही हो सके । सबसे पहले उन्होंने कलाओं के स्थान पर कलात्मक वृत्तियों को लिया; फिर कलाओं की अभ्यस्त त्रयी मे संगीत को जोड़कर उसका विस्तार किया (यह हीगेलीय द्वंद्वन्याय की त्रयी का स्खलन है) और अंत मे प्रत्येक कला के प्रयोजन (हीगेलीय आत्मा के साक्षात्कार की रगत पर) स्पष्ट किये; उदाहरणार्थ वास्तुकलावृत्ति ईश्वरोन्मुख; शिल्प एवं चित्रकलावृत्ति किसी आदर्श अथवा यथार्थ मनुष्य से प्रेरित; तथा संगीतात्मकवृत्ति वाह्य ऐंद्रियिक जगत् की ओर उन्मुख होती है । लाप्रेद ने अपेक्षाकृत अधिक विश्व सस्कृतियों का समावेश करके अपनी स्थापना को और भी सिलसिलेवार बनाया । विश्व-संस्कृति की एक इकाई के बजाय विश्व-संस्कृतियों का एक पुंज मानकर, तथा कलाओं के बजाय कलावृत्तियों को ग्रहण करके उन्होंने इस धारा को थोड़ा-सा-संगत बनाया । उनके अनुसार पौर्वात्य कला(भारतीय, मिस्री, फारसी, चीनी) प्रमुखतः वास्तुकलात्मक; यूनान और रोम की कला प्रमुखत. शिल्पात्मक, मध्यकालीन यूरोप की ईसाईकला मुख्यतः भावात्मक (Malerisch) तथा आधुनिक समय की कला मूलतः संगीतात्मक है ।

फ्रंक चैंबर्स और बोवेट ने भी कुछ पहल की हैं । 'साइकल्स आफ टेस्ट' (1928) में उन्होंने संभवतः सृजनात्मक (Creative) और सचेतन (Conscious) चरणों को प्रतिपादित किया है । प्राचीन यूनान और रोम, तथा दुबारा यूरोप मे, कला महान थी लेकिन वह अपने क्रियाधर्म (Function) तथा प्रयोजन (Mission) के प्रति अचेत थी, क्योंकि कलाकार की वैयक्तिकता से उसे कोई लगाव नही था । कलाकृति ही केंद्र में थी । लेकिन कला की संचेतना के आविर्भाव के साथ ही कलावाद उभरा, तथा संग्राहक और सहृदय समालोचक उदित हुए । अतः महानता तथा व्यक्तित्व की पूजा

शुरू हो गई। चेंबर्स ने साहित्य तथा साहित्यिक आलोचना को अपना उपजीव्य बनाया। उन्होंने यह पाया कि प्राचीन यूनानी तथा यूरोपीय कलाए एक सदृश चरणो से गुजरी है। पहले सृजनात्मक चरण मे सौंदर्य या कला चरम मूल्य नही थे, बल्कि धर्म, नीति, देशभक्ति, नागरिक गुण आदि की प्रमुखता थी। ई०पू० चौथी शती तक का यूनान, और रेनेसा एवं क्लसिसिज्म के पतन काल तक का यूरोप ऐसे अन-सौंदर्यतात्विक सौदर्यमूल्यन के दौर मे था। इसकी तुलना मे दूसरे सचेतन चरण मे सौंदर्य परममूल्य हो गया और कला श्रेष्ठता के शिखरो को छूने के बजाय विघटित तथा ह्रासोन्मुख होती गई।" बोवेट ने हीगेल के बजाय विक्तर ह्यूगो को आधार बनाया। ह्यूगो के मुताबिक प्रत्येक जन (People) का साहित्य तीन क्रमिक चरणो से गुजरता है: प्रगीतात्मक (Lyrical), महाकाव्यात्मक (Epical) और नाटकीय (Dramatic)। समाज की प्रत्येक अवस्था के अनुरूप काव्य के तीन चरण होते हैं: आदिम समय का काव्य प्रगीतात्मक, प्राचीन समय का महाकाव्यात्मक तथा आधुनिक समय का नाटकीय। 'आदिम युगो मे मनुष्य मत्रोच्चार करता है युवावस्था मे वह प्रगीतात्मक' होता है, प्रार्थना उसका समग्र धर्म होती है, वीरगति (Ode) उसका समग्र काव्य।" अपेक्षाकृत बडे समूहो और साम्राज्यो के उदय होने पर लडाइया तथा अन्य वीरकार्य प्रकट होते हैं जिससे "मनुष्य महाकाव्यात्मक हो जाता है।" तदुपरात सामाजिक जीवन की जटिलता के साथ नाटक का, चितन, निराशा और दया का आविर्भाव होता है। तब काव्य नाटकीय हो जाता है। ह्यूगो इस वैश्वक नियम को प्रामाणिक मानते हैं। साराश मे ह्यूगो-बोवेट नियम के अनुसार साहित्य "प्रगीतात्मक-महाकाव्यात्मक-नाटकीय चरणो" मे से गुजरता है। वास्तव मे यूनान और भारत की जैसी संस्कृतियो मे महाकाव्य शीर्षस्थ हैं। कई संस्कृतियो मे नानाभाति के भेद-विभेद है जिसकी वजह से ये नियम अनुमान ही बनकर रह जाते हैं। इस नियम की विशेषता यही है कि यह हीगेलीय चक्र से यथासभव मुक्त होकर फ्रासीसी यथार्थबोध का आहरण करता है।

पित्रीम सोरोकिन का दृष्टिकोण कोपरनिकन कहा जाता है। वे इतिहास को सामाजिक एव सास्कृतिक प्रवृत्तियो का विश्लेषण मानते है और सामाजिक-सास्कृतिक व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। उन्होने स्पेंगलर तथा टायनबी की इसलिये भी आलोचना की है कि वे संस्कृतियो की आतरिक एकता के बजाय उनके समूहो (Cozeries) पर बल नही देते हैं। तदपि सोरोकिन के अनुसार सभ्यताएं प्रासगिक (Accidental) हैं। इनके अर्थपूर्ण व्यवस्था के स्थान पर विशाल सवर्ग (Vast categories) होते हैं। वे सभ्यताओ मे कार्यकारण न्याय तथा अर्थपूर्ण सश्लेषण जोडने के पक्ष मे भी नही हैं। न तो उनकी जीवन-रेखा होती है, न वृद्धि और न ही मृत्यु। इस तरह वे स्पेंगलर का

प्रतिवाद करते हैं। इसके बावजूद भी सोरोकिन "सांस्कृतिक व्यवस्थाओं" मे आंशिक संश्लेषण (Integration) स्वीकार करते हैं। सांस्कृतिक व्यवस्था की अपनी परिभाषा के अंतर्गत वे भाषा, धर्म, ललित कलाएं आदि जैसे मानवीय संस्कृति के सवर्गों को ग्रहण करते है। इसी तरह वे "परिव्यवस्थाओं" (Super-systems) या अति-व्यवस्थाओं मे भी संश्लेषण स्वीकार करते हैं जिनमे समाज एव संस्कृति संयुक्त हैं। यह धारणा मार्क्सीय परिगठन (Superstructure) से प्रभावित है। वस्तुतः सभ्यताएं आंशिक रूप से ही संश्लिष्ट होती है किन्तु सोरोकिन भी स्पेंगलर के समान एक दूसरी अति को छूते हुए दृष्टिगोचर होते है।

वे चार प्रकार की कला-संघटना मानते हैं: भावनात्मक (Ideational), गोचरता परक (Sensate), आदर्श समन्वयवादी (Eclectic) तथा आदर्शवादी (Idealistic)। भावनात्मक संस्कृति के प्रतिपाद्य अतींद्रिय तथा अबुद्धिमत्तापूर्ण विषय होते हैं और शैली प्रतीकात्मक। यह संघटना श्रद्धा पर आधारित है और इसका साहित्य एवं कलाएं धार्मिक विषयो तथा मिथकीय कथानको से प्रचुर होती है। गोचरतापरक संस्कृति के विषय ऐंद्रियिक होते है तथा शैली यथार्थतापरक। यहा ऐंद्रियिक भोग और सांसारिक सुख प्रधान होते हैं। आदर्शवादी कला के विषय आंशिक अतींद्रिय तथा आंशिक ऐंद्रियिक होते हैं? शैली आंशिक रूप से आदर्शीकृत प्रकृतिकतावादी तथा आंशिक प्रतीकवादी एवं अन्यापदेशिक होती है। इस तरह मे यह भावानात्मक एव गोचरतापरक का समन्वय है। आदर्शसमन्वयवादी कला मे प्रतिपाद्य, शैली और ध्येय की एकता नही होती। यह एक प्रकार से असंश्लिष्ट-सी होती है अर्थात् समन्विति के बजाय गड्डमड्ड।

सोरोकिन ने यह भी कहा है कि ये चारों कलारूप वस्तुतः सभी संस्कृतियो मे, और एक ही संस्कृति के सभी कालों मे मिलते है। भिन्न सभ्यताओं मे इनका कोई भी एक रूप भिन्न होता है जो 'सांस्कृतिक व्यवस्था' तथा 'परिव्यवस्थाओं' पर निर्भर करता है। काल के क्रम मे किसी एक कलारूप की प्रमुखता का स्थान दूसरा कलारूप ले लेता है। ग्रोवर के अनुसार "सोरोकिन की अनुक्रमणिका का तथा उनके चरित्र-विधायक मजमूनो का विश्लेषण यह पूर्णतः स्पष्ट कर देता है कि उनका" "भावात्मक परिगठन" संस्कृतियों के पूर्वकालिक या अभ्युदित युगों का, "गोचरतापरक" उनकी प्रौढता और अवनति का; "आदर्शवादी" उनके चरमोत्कर्ष का (विशेषतया कला और दर्शन मे); तथा असंबद्ध "आदर्श समन्वयवादी" वृहत् संस्कृतियो के बीच के अपकार युगो का समसंवादी (Corresponding) है।"

इस तरह सोरोकिन ने पुनरावृत्त तालो (Recurring rhythms) वाले और रेखाक विकास वाले इतिहास के कला-दर्शनो को स्वीकार नही किया। पहले के मूल मे ध्रुवांतो के बीच आगे-पीछे दोलन की धारणा सन्निहित है। दोलन की कलावधि युगो की तरह लंबी तथा पीढियो की तरह छोटी हो सकती है। इसी तरह रेखाक क्रम मे क्रांति-स्थिरता, उत्थान-पतन, संकट-उन्मेष, विघटन-संश्लेषण आकस्मिक मोड़ घटते हैं। अतः ये अधिक लाभदायक सिद्ध नही हुए।

क्रोबर, संस्कृति के स्थान पर अव्याख्यायित "उच्चमूल्यात्मक सांस्कृतिक पटर्न"[1] को आधार बनाते हैं। आश्चर्य है कि एक नृतत्वशास्त्री ने भी सृजनात्मक प्रतिभा वाले व्यक्तियो की अधिक सख्या के आधार पर सांस्कृतिक उत्थान, तथा कमी के आधार पर सांस्कृतिक पतन के काल का निवेश किया है। एक ओर तो वे इस उत्थान-पतन मे प्रतिमाशाली मनुष्यो के बीच का अनुपात या मात्रा नही तय कर सकते, दूसरी ओर वे व्यक्तियो को वैयक्तिकता से विहीन करके उन्हे संस्कृति के सश्लिष्ट विकास का प्रतीक मानते हैं। इस तरह वे ध्रुवात (Poles) की धारणा को आधार बनाते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक सभ्य जाति की संस्कृति मे दो, तीन, चार, पाच उत्थान-पतन वृत्त मिल सकते है। वे यह भी प्रतिपादित करते हैं कि संस्कृति के विकास क्रम मे क्रमश. धर्म, कला और विज्ञान का उन्नयन होता है। अधिकाश मध्यकालीन युगों में कला तथा विज्ञान धर्मानुगामी होने के कारण अपेक्षणीय विकास तथा उन्नति नही कर सके। धर्म से स्वतंत्र होने पर ही ये तेजी से उन्नति करते हैं किन्तु पूर्णतः अकेले हो जाने पर इनका (कला एवं विज्ञान का) पतन हो जाता है। अतएव वास्तु-शिल्प-चित्र की त्रयी के स्थान पर क्रोबर धर्म, विज्ञान एवं कला, तथा उत्थान-पतन की द्वयी प्रस्तुत करते हैं। पहले वे शैली का संबंध प्रतिभा से स्थापित करते है; फिर शैली को कला से इतर अन्य सास्कृतिक क्रियात्मकताओ मे भी खोजते है, और अंततः सभ्यताओ मे शैलीवत गुणधर्मों (Properties) की संभावना तथा मात्रा की तलाश करते हैं। इस तरह वे शैली के अंतर्गत व्यक्तित्वो की छापो, सभ्यताओ के स्वरूपो तथा संस्कृतियो के पैटर्नों का समावेश कर लेते है। इन पैटर्नों के विलयन मे वे पतन को केंद्रित कर देते है। सृजनात्मक प्रतिभाओ वाले व्यक्तियो की सख्या मे कमी के कारण पतन होता है, तथा कमियो वाली सस्कृति का एक समृद्ध सस्कृति से मुकाबला होने पर भी पहली संस्कृति का विलयन हो जाता है। अत उनके अनुसार सास्कृतिक वृद्धि घनीभूत स्फोट (Burst)

1. "Style and Civilization" A. L. Kroeber, p. 134,
Cornell University Press, Ithaca, N.Y. 1957

या संचयन (Constellation) के द्वारा होती है। वे सांस्कृतिक उत्थान का कोई वश्वक नियम अथवा क्रमापन (Order) नही मानते। अलबत्ता वे यह मानते हैं कि संस्कृति में शिल्प का अभ्युदय पहले होता है, जबकि विज्ञान और साहित्य (उपन्यास) बाद मे विकसित होते है क्योंकि इनके लिए बौद्धिक एवं सामाजिक विकास भी अपेक्षित है। वे यह भी स्वीकार करते है कि प्रत्येक संस्कृति को जब अपने विशिष्ट पैटर्नों का सिद्ध अनुभव होता है तभी सास्कृतिक प्रसुमन हो सकता है। ये निर्धारित पैटर्न कई चरणो में प्राप्त हो सकते हैं जिनके बीच मे मध्यातर भी क्रियाशील रहते है। वे यह भी मानते हैं कि एक देश की सस्कृति मे एक पैटर्न-समूह के विलयन के बाद दूसरे या तीसरे या चौथे पैटर्न-समूह का उत्थान हो सकता है। जब कोई सस्कृति अपनी सभी सामग्री को पैटर्नों मे संगठित कर चुकी होती है तब वह रिक्त होकर समाप्त हो जा सकती है। उनकी स्थापनाओं में यह त्रुटि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि विशिष्ट सांस्कृतिक पैटर्नों के हेतु सृजनात्मक प्रतिभा वाले व्यक्तियो की सख्या को स्वीकार करने के बावजूद भी वे सामाजिक वर्गों तथा समूहो की सत्ता लक्षित नही करते। वे आरंभिक सास्कृतिक पैटर्न के प्रभाव को कई शर्तों में बांध देते हैं। मूलत. उसकी निर्देशक एवं संचायक भूमिका की ओर वे इशारा करते हैं। इस तरह आरंभिक सास्कृतिक पैटर्न एक सभ्यता के प्रारब्ध तथा निश्चयवाद जैसे हो जाते हैं। अतः इन पैटर्नों मे न ढल सकने वाली मभावी प्रतिभाओं की नियति भी असफलता हो जाती है। साराश मे हम कह सकते हैं कि क्रोबर सास्कृतिक नृतत्वशास्त्री तो रहे हैं, लेकिन समर्थ ऐतिहासिक समाजशास्त्री नही हो सके। जिस तरह स्पेंगलर ने प्रत्येक सस्कृति का उसके आद्य प्रतीक (Prime symbol) मे संक्रमण किया है, उसी तरह क्रोबर ने आरंभिक सास्कृतिक पैटर्न मे। स्पेंगलर ने भी एक संस्कृति की सभी शैलियों – लिपि प्रनिनिवेदन, सज्जा, शिल्प, काव्य, संगीत, दर्शन, विज्ञान, राजनीति की शैलियो – को इस अर्थ मे समानक-रूपी माना है। कहा जा सकता है कि संस्कृतिरूप एकान्विति की अभिव्यंजना मे उनमे एक सर्वसामान्य गुण होता है। क्रोबर शैली को ऐसी ही भूमिका प्रदान करते हैं किन्तु बहुगुणमूलक शैली का संपादन करते हैं।

हम यही पाते हैं कि ये उपसिद्धांत परिकल्पी (Speculative) होकर रह गये हैं। धारा, उत्थान-पतन, ध्रुवात, ताल, तरग, शैशव-प्रौढ़ता-वृद्धता आदि के रूपकों (Metaphores) का इनमे प्रचुर उपयोग हुआ है किन्तु इनका वैज्ञानिक प्रमापन संदेह-पूर्ण है। भौतिक जीवन और सामाजिक सबधो के ठोस तथा विपुल आधारों को लगभग गौण बनाकर केवल कला-प्रिज्म या संस्कृति को लेने पर हम सांस्कृतिक चेतना को तो प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन ऐतिहासिक यथार्थता को प्रतीक बना देते हैं। इन स्थापनाओं

मे काल और स्थान को खंड-खंड करके भी विश्व का विचित्र संश्लेषण किया गया है। कालावधि के बाबत भी ये धारणाएं विश्वासपूर्ण नियम नही दे पाती। डेनिलेव्स्की के 'उत्थान-पतन', पेट्री के 'रेखाक विकास' लाइगेटी के 'तरंग,' दियोना के 'शंखवृत्त,' क्रोवर की 'ध्रुवातता,' सोरोकिन की 'परिव्यवस्था' आदि की धारणाएं हमे सास्कृतिक मूलतत्त्वो की ओर ले जाती हैं। बस। कला के क्षेत्र मे ये उपसिद्धात शैली को केंद्रीयता प्रदान करते हैं, और विषयवस्तु की दृष्टि से धर्म, दर्शन और विज्ञान के प्रभावो को निवेदित करते हैं। किन्तु ये सामाजिक यथार्थता और भौतिक परिस्थितियों की निरतर उपेक्षा करते है। अतः कला के प्रिज्म द्वारा इतिहास की व्याख्या के इन हीगेलीय स्थापनाओ के दावे सही साबित नही हुए। एक ओर तो इन्होने माना कि कोई एक सस्कृति अथवा अनेक सस्कृतियो की कला-व्यवस्थाओ का नियत अस्तित्व है, दूसरी ओर ये व्यवस्थाए उद्भव-समृद्धि-अवसान की त्रयी में बधी है, और तीसरी ओर मानव-जीवन की तरह इनकी भी शैशव-प्रौढ़ता-वृद्धता (बाद मे मृत्यु ?) की अवस्थाए होती हैं। सोरोकिन[2] ने इन पर टिप्पणी करते हुए कहा कि हमे न तो यह पता है कि कला-व्यवस्थाओ के (और उनके माध्यम से सस्कृति के) शैशव-प्रौढ़ता-अवमान की क्या विशेषताए हैं; न ही यह पता है कि एक अवस्था कब और कहा तथा क्यों और कैसे शुरू तथा खत्म होती है; एव न यह ही पता है कि एक अवस्था कब और कहा तथा क्यो और कैसे शुरू तथा खत्म होती है; एव न यह ही पता है कि एक अवस्था की कलावधि कितनी होती है ? इसलिये इनका वैज्ञानिक मूल्य कुछ नहीं है।'

अतएव सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं के अनुरूप कला की ही नही, बल्कि कलात्मक वृत्तियो की प्रमुखता एव प्रसार, दोनों के सबधो को लेना अवश्यभावी है। हम सस्कृतियो को सामाजिक-व्यवस्था-जन्मा पाकर ही अपेक्षाकृत एक बहुत बड़े वैज्ञानिक सत्य के सामने खड़े हो जाते हैं।

2. पित्रीम सोरोकिन : "Social Philosophies of an Age of Crises" pp 29

रंगमंच

आज का रंगजीवन : एक अंतर्यात्रा

●

कन्हैयालाल नंदन

मैं जब आयु में छोटा था तो गाँव की रामलीला में भाग लिया करता था। लेकिन तब यह बिल्कुल नहीं समझता था कि यह रामलीला हमारे भारतीय रंगमंच की एक कड़ी भी है और हिन्दी रंगमंच का एक प्रमुख अंग भी। जब बड़ा हुआ, हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास को पढ़ा, तब पता चला कि जिस रामलीला में हम लोग मात्र मनोरंजन और ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन की झलक देने के लिए भाग लिया करते थे, वह एक सुनिश्चित परंपरा का हिस्सा है और हमारी नाट्य-परंपरा की एक अविरल कड़ी है। तभी यह भ्रम टूटा कि केवल नाटक या रामलीला ही हमारा रंगमंच नहीं है, इसमें नौटंकी, स्वांग, भांड, प्रहसन आदि सभी सम्मिलित हैं। कुछ में प्राचीन धार्मिक तागा पिरोया हुआ है तो कुछ में समसामयिक जनजीवन के प्रतिबिंब झांकते हैं। हिन्दी रंगमंच की ये विविध इकाइयाँ समन्वित रूप से एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक मंच प्रस्तुत करती हैं।

लेकिन जहाँ इन इकाइयों का परिचय पाया हिन्दी रंगमंच के क्रमिक विकास को पढ़ते हुए, वहीं यह भी पढ़ा कि हिन्दी का रंगमंच बहुत विकसित नहीं हो पाया। आगे चलकर यह फतवा पढ़ते-पढ़ते थक गया कि हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है। इस फतवे को आदि-स्वर देने वाला कौन महापुरुष रहा यह तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन उस माई के लाल ने इतना जरूर कर दिया कि यह फतवा कई [illegible]

की चोट पर विश्वविद्यालयी प्राध्यापकों और तथाकथित नाट्य-समीक्षकों की जबान पर चढ़ा रहा।

सोचा करता था कि हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है तो फिर किस भाषा का अपना रंगमंच है ? ये समीक्षक और प्राध्यापकगण अखिल भारतीय रंगमंच के स्वरूप का कितना वृहद् ज्ञान रखते हैं कि उन्हें हिन्दी का रंगमंच छोटा ही नहीं, नगण्य लगता है। अगर हिन्दी का रंगमंच नहीं है तो भारतेन्दु हरिश्चंद्र के 'अंधेर नगरी' की हम इतनी माला क्यों जपते आ रहे हैं, प्रसाद के नाटकों की लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ क्यों की जाती हैं ! एकांकीकार रामकुमार वर्मा, विष्णु प्रभाकर, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, जगदीशचंद्र माथुर आदि के नाम हम रटते ही रहे और ये समीक्षक हिन्दी रंगमंच को नगण्य बताने में अपने अध्ययन का सारा गौरव खर्च करते रहे।

आखिर एक दिन वह भी आया जब विद्यार्थी के रूप से हटकर नाट्य-दर्शक के रूप में मैं नाटकों में विशेष दिलचस्पी लेने लगा और वह भी हिन्दी क्षेत्र में नहीं, अहिन्दी-भाषी क्षेत्र महाराष्ट्र में। मराठी का रंगमंच बड़ा समृद्ध है—यह भी मैंने खूब सुन रखा था। पहली बार एक उपनगर के हाल में एक मराठी नाटक देखने गया। रविवार की सुबह थी और हॉल खचाखच भरा हुआ था। सचमुच मराठी रंगमंच समृद्ध लगा। *समृद्धि कहीं से बरसती नहीं, बटन दबाने से भी नहीं आती। सांस्कृतिक* समृद्धि धीरे-धीरे जन-जन के मानस में पनपती है, धीरे-धीरे बढ़ती है। मराठी का हर दर्शक, भले ही वह सही अर्थों में नाट्यधर्मी रुचि का हो या न हो, नाटक को देखने जाता है। इसीलिए नाट्यकर्मियों के मन में उत्साह पैदा होता है और वे उस पर निष्ठा-पूर्वक काम करते हैं। हिन्दी के नाटकों को देखने वाले नहीं होते, तो नाट्यकर्मी हिन्दी के रंगमंच को किसके बूते विकसित करेंगे और किसके लिए करेंगे ? जो लोग यह कहते पाये जाते हैं कि हिन्दी का अपना कोई विकसित रंगमंच नहीं है उनसे पूछिये कि आपने अभी हाल में हिन्दी का कौन-सा प्रदर्शन देखा, तो कई साल पहले का कोई प्रदर्शन बताकर चुप हो जाते हैं।

लेकिन असलियत कुछ दूसरी है। मैंने पाया कि भारतीय रंगमंच के संदर्भ में हिन्दी रंगमंच को अविकसित मानने वाले लोग आँखों में धूल झोंकते आ रहे हैं। मैंने उत्तर भारत के स्वाँग-तमाशों को भी देखा, नौटंकी को भी देखा, रामलीला को भी देखा और मराठी के तमाशे का स्वरूप भी देखा, यक्षगान का सुविकसित मंचन देखा, बँगला रंगमंच की जात्रा से परिचय प्राप्त किया, पंजाबी के नाटक देखे, गुजराती का लोकमंच और पुराना शास्त्रीय मंचन देखा, बंबई के 'देशी नाटक समाज' में हफ्तों तमाशे और

तब यह निष्कर्ष निकाला कि हिन्दी का रगमच न केवल समृद्ध है, उसकी परंपराएँ समृद्ध हैं, उसकी परिकल्पनाएँ शुद्ध विचार-सरणियो से जुड़ी हुई हैं। सच कहे तो रगमंच तो भारतीय जन-जीवन मे पिरोया हुग्रा है। ग्रावश्यकता है तो केवल प्रोत्साहन के ग्रभाव मे बिखरती हुई इन इकाइयो की जीवन-शक्ति मे प्राण फूँकने की। यदि इस तथ्य को भली प्रकार समझ लिया जाये तो हिन्दी के रगमच को विकसित ही नही, पर्याप्त विकसित कहे जाने मे देर न लगे। जैसे फिल्मी संगीत के क्षेत्र मे लोकधुनो को ग्राधार बनाकर जो धुनें सिनेमा मे ग्रायी, उन्हे ग्रसाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई। उसी प्रकार हिन्दी क्षेत्रों का लोकमच यदि नयी परिकल्पनाग्रों के साथ प्रस्तुत किया जाये तो ग्रसाधारण विकास का ग्राभास सामने ग्राने लगेगा। इसे कौन नही मानेगा कि राजस्थान ग्रौर गुजरात की भवाई शैलियाँ ही मणि मधुकर के 'छत्रभंग' की सफलता का कारण रही हैं ! लोकमच की विशेषता यह होती है कि इसमे समसामयिक जीवन को प्रतिबिंबित करने वाले पक्ष ग्रनायास जुडते चले जाते है।

रामलीला मे ग्राप परपरा की समृद्धि को भले प्रदर्शित कर ले, लेकिन जन-जीवन की दैनंदिन समस्याग्रो को गाँव का भाँड़ या स्वाँग करने वाला जितनी जल्दी ग्रभिनय के माध्यम से उतारता है उतनी जल्दी रामलीला का कोई पात्र नही उतार पाता। ऐसा नही कि रामलीला मे उनका समावेश वर्जित है या ग्रसमव है। ऐसा होता तो हमारे गाँव के कामता रामलीला मे पेटूराजा बनते-बनते ग्राज के मनचले दर्शक का मन कैसे मोहते ! ग्राखिर समसामयिक जनजीवन परंपरा मे भी मुखरित होने का ग्रवसर खोज ही लेता है। स्वाँग-तमाशे मे वे तत्त्व जल्दी समाहित हो जाते हैं, सभ्रात मच पर ग्राने मे थोड़ी देर लग जाती है।

रंगमच का जो स्वरूप पिछले सालो यानी करीब पिछले दो दशको मे विकसित हुग्रा है, वह है भाषागत सीमाग्रो को तोडकर एक समन्वित भारतीय रगमच का। मतलब यह कि कन्नड मे ग्रगर शिवराम कारंथ का यक्षगान उस क्षेत्र की श्रेष्ठ मचीय उपलब्धि है तो वह मराठी मे भी ग्रवतरित होती है, हिन्दी मे भी ग्रौर बँगला मे भी। उसके ग्रभिनय के कुछ तत्त्व फिर धीरे-धीरे दूसरी भाषाग्रो के पारपरिक रगमच के मूल तत्त्वो को प्रभावित करते हैं ग्रौर इस तरह एक परंपरा समृद्ध होती हुई नई शैलियो के समावेश के साथ ग्रागे बढती रहती है।

पिछले दो दशक मे हिन्दी रगमच ने भी इस तरह ग्रभूतपूर्व प्रगति की है। भारतीय रगमंच भाषा की सीमाएँ तोड़कर सही ग्रर्थो मे भारतीय होकर चला। विजय तेंदुलकर का 'गिधाड़े' या 'सखाराम बाइंडर' ग्रथवा 'घासीराम कोतवाल' हो,

बादल सरकार का 'पागल घोडा' हो या 'एवं इंद्रजित', गिरीश कर्नाड का 'तुगलक' हो या आद्यरगाचार्य का 'सुनो जनमेजय', डॉ० धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' हो या राकेश का 'आपाढ़ का एक दिन', 'लहरो के राजहस' अथवा 'आधे अधूरे' सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी', डॉ० लाल का 'दर्पण' हो या 'कर्फ्यू' अथवा 'व्यक्तिगत' याकि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', मणि मधुकर का 'रसगंधर्व' और मुद्राराक्षस का 'आला अफसर'. हर भाषा में इनके मंचन की तत्काल खलबली मचती है। यह भी होता रहा है कि 'द्रौपदी' हिन्दी मे बाद मे होता रहा है, मराठी में पहले हो जाता रहा है। भारतीय रंगमंच की यह स्थिति विभिन्न भारतीय भाषाओं के अपने-अपने रंगमंच को इन दिनो बड़े सुखद ढंग से समृद्ध करती रही है।

विभिन्न भाषाओं के रगमंच का हिन्दी के साथ का यह आपसी आदान-प्रदान ऐसा नही है कि पहले नही होता था, लेकिन मोहन राकेश के नाटकों के मंचन से यह आदान-प्रदान ऐतिहासिक बन गया। उनके तीनो नाटक 'आपाढ़ का एक दिन' 'लहरो के राजहंस' और 'आधे अधूरे' की अभूतपूर्व सफलता ने हिन्दी रंगमंच को आधुनिकता से जोड़ा और उसकी समृद्धि को बड़े आदरास्पद स्थान पर प्रतिष्ठित किया। मोहन राकेश के चौथे नाटक 'पैर तले की जमीन' की मूल परिकल्पना तो राकेश के साथ चली गयी, उसके उपलब्ध अंशो से जो स्वरूप उस नाटक का बना, वह राकेश को पिछले तीनो नाटको से आगे नही ले जा पाया। लेकिन राकेश का नाटककार व्यक्तित्व भारतीय नाट्य-जगत् मे ऐसा छाया कि हिन्दी के समसामयिक नाट्यलेखन मे वैसा चमकता हुआ नाम उनके निधन के बाद सहसा खोज पाना बडा मुश्किल हो गया। इसी बीच डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, रमेश बक्षी, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, सर्वेश्वर और शंकर शेष के नाटकों ने हिन्दी के शून्य को भरने मे बड़ी मदद की। लेकिन इसका यह मतलब लेना गलत होगा कि अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमच के सामने हिन्दी रंगमंच की स्थिति दयनीय हो गयी।

नाट्यलेखन के अलावा नाट्यकर्म से जुड़े हुए अनेक अन्य पहलुओं—निर्देशन, मंच-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, मेकअप, अभिनय शैलियो के संदर्भ मे भी हिन्दी रगमच का लेखा-जोखा करना समीचीन होगा। सचार-साधनो के विकास और आपसी आदान-प्रदान की सुविधाओं के माध्यम से विश्व-रंगमंच के संपर्क मे आकर भी भारतीय रंगमच ने इस बीच अपने को बहुत समृद्ध किया—सैमुअल बेकेट, ज्याँ जेने, आइनेस्को, जॉन ऑस्बर्न, मौलियर, ब्रेख्त. आदि के नाटको का रूपातरण विभिन्न भारतीय भाषाओं मे होकर उन भाषाओं की मौलिक मंचन पद्धतियो के साथ-साथ आता रहा। लेखन के

नये-नये प्रयोग मंचन को नयी चुनौतियो से आगे बढ़ाते रहे। फलस्वरूप ग्रनेक प्रतिभा-शील निर्देशकों का उदय हुआ, जिसकी पृष्ठभूमि मे नेशनल स्कूल ग्रॉफ ड्रामा भी अपनी विशेष भूमिका निभाता रहा है। उसके भूतपूर्व डाइरेक्टर इब्राहीम अल्काजी की बहुमुखी प्रतिभा की इस दिशा मे बडी सजग भूमिका रही है। ग्रोम शिवपुरी, मोहन महर्षि, राजेन्द्रनाथ, ब्रजमोहन शाह, एम० के० रैना, बशी कौल, टी० पी० जैन, सत्यदेव दुबे, ग्रमोल पालेकर, श्यामानंद जालान, सई परांजपे, शभू मित्रा, गिरीश कर्नाड, ब०व०कारथ ग्ररविंद देशपाडे, डॉ० श्रीराम लागू ग्रादि ने ग्रभिनय के साथ निर्देशन मे भारतीय रगमच की ग्रधुनातन चुनौतियो का सामना किया है। इन चुनौतियो ने बढ़िया ग्रभिनेता भी निखारे है। ग्रन्य भारतीय भाषाग्रो को छोड भी दें, तो हिन्दी में ही केवल बबई से ग्रमरीश पुरी का नाम हिन्दी रंगमंच के मँजे हुए ग्रभिनेताग्रों की स्तरीयता बताने के लिए काफी है। दिल्ली मे भी नाम गिनाने लगिये तो एक खासी भीड़ इकट्ठी हो जायेगी श्रेष्ठ ग्रभिनेता-ग्रभिनेत्रियो की। जबकि हिन्दी रगमच केवल दिल्ली, बबई ही नही है, कलकत्ता, पटना, कानपुर, बनारस, गोरखपुर, लखनऊ....छोटे-छोटे शहरो—कस्बों मे बिखरा पूरा देश है।

हिन्दी रगमंच की इन गतिविधियों को स्तरीयता के साथ रखने वाली कुछ प्रमुख नाट्य पत्रिकाग्रो का स्मरण भारतीय रंगमंच के संदर्भ मे ग्रावश्यक है। संपूर्णतया नाट्यकर्म को समर्पित हिन्दी की पत्रिका 'नटरग' उसके सपादक श्री नेमिचद्र जैन की संपादन ग्रौर समीक्षा-दृष्टि के कारण भारतीय रगमच के क्षेत्र मे ग्रपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। राजस्थान से निकलने वाली पत्रिका 'रगयोग' भी महत्वपूर्ण रही है। हिन्दी रगमच का जब भी बारीकी से ग्रध्ययन किया जायेगा, इन पत्रिकाग्रो को भुलाया नही जा सकता। ग्रंग्रेजी पत्रिका 'इनैक्ट' ने भी भारतीय रगकर्म को सभ्रान्त तबके तक पहुचाने मे बडी सहायता की है।

हिन्दी के लोकमच की स्थिति शहरी प्रभावो के कारण कुछ ग्रपने मूल से भिन्न जरूर हुई है, लेकिन ग्राधुनिकता के छीटो ने उसका स्वरूप उभारा है, वह भी कम ग्राकर्षक नही है। सगीत नाटक ग्रकादमी की स्थापना के बाद देश के विभिन्न भागो के लोकमच के पुनरुज्जीवन की ग्रोर जो प्रयास किये गये, उनमें हिन्दी का लोकमच भी ग्राकर्षण का केन्द्र बना। उत्तर प्रदेश की नौटकी तथा रामलीला ग्रादि की शास्त्रीय परपराग्रों का ग्रध्ययन किया गया ग्रौर उनके विस्मृत कलाकारो की पहचान के प्रयास किये गये, यद्यपि ग्रभी भी इस दिशा मे विशेष प्रयास की ग्रावश्यकता है। जैसे कि नौटकी मे नगाडे का विशेष महत्व है। मुझे याद है मेरे बचपन मे कानपुर के पास

तिरमोहन पहलवान का नगाडा इतना प्रसिद्ध था कि लोग दूर-दूर से उनकी मंडली का मचन इसी एक विशेषता के कारण देखने को टूट पडते थे। ऐसे प्रसिद्ध कलाकारों की सही पहचान करने की आवश्यकता है और उनकी कला को सही संरक्षण देने की भी आवश्यकता है।

जब भी नौटकी अथवा रामलीला के जरिये लोकमच की बात उठती है तो ऐसा लगने लगता है जैसे मेरा गाँव मेरे अन्दर टहलता हुआ मुझे किसी दूसरी दुनिया मे लिये जा रहा है। दूसरी दुनिया इसलिए कि महानगरो की दुनिया से वह दुनिया बिल्कुल अलग है। लेकिन सच कहू तो आज का मेरा गाँव भी मेरे बचपन के गाँव से अलग है। अब तो गाँव क्या है, जगमग शहर है। बिजली है, पखे हैं, हीटर है, कारखाने है, ट्यूबवेल है तब, जब मैं गाँव मे रहता था यह सरजाम तो नही था लेकिन बडो की आज्ञा-पालन मे बिजली की-सी फुर्ती जरूर थी, हीटर नही थे लेकिन आपसी सुख-दुख के समय दिलो की गर्मी जरूर थी। ट्यूबवेल नही थे लेकिन सुराही के पानी से उसकी कमी को पूरा कर लिया जाता था और उसके साथ प्रेम की जो धारा उमडती थी उसे शब्दो मे नही उतारा जा सकता। धीरे-धीरे वह सब-कुछ गँवई होकर पीछे छूट गया और महानगरीय सभ्यता के मुलम्मे गाँवो पर चढते गये। धीरे-धीरे मुलम्मो का खोल बढता गया, असली गाँव छोटा होता गया और यह भी उतना ही सच है कि धीरे-धीरे गाँवो के छोटा होने की प्रक्रिया मे हम सबके अदर का इंसान भी छोटा होता गया है, कलाएँ—हमारी लोक कलाएँ, विशेषकर मच कलाएँ शहरी होती गयी।

गाँव की याद मे मैंने एक छोटी-सी कविता लिखी थी, शायद वह कविता गाँव के सदर्भ मे आज के महानगरीय माहौल मे जीने वाले ग्रामीण मन की एक तस्वीर उभार सकेगी। कविता यों है :

"जब-जब तुमने अपनी आदिम गंधो से
मुझे आवाज दी है
यादो की रेशम से तन-मन दुलराया है ...
मेरा मन
गाँव की सुहानी अमराइयां छोडकर
कुलांचे भरता तुम्हारी तरफ भाग आया है।
नही सोचा कि बासती हवा ताने मारेगी
नही देखा कि अलसी के फूल आंसू बहायेंगे

और टेसू गोभ-गोभ फूलेंगे,
बिना कुछ कहे झर कर बिखर जायेंगे।

लेकिन जब मैंने देखा कि
तुम्हारे आँगन के गमलों में
मेरे गाँव की काँटेदार भटकटइया,
प्यार से पल रही है....और
तुलसी पियासी एक कोने में जल रही है
तो मुझे लगा कि
काँटों की खेती का अभ्यास किये बिना
यहाँ रह नहीं पाऊँगा।

सच है कि
मैंने तुम्हारे साथ इन पले हुए काँटों को
कितनी बार अर्घ्य चढ़ाया है
लेकिन सच मानो, हर बार मेरी अंजुली का पानी थरथराया है
और मेरा वह अपना छोटा-सा गाँव,
मुझे बहुत याद आया है।"

जब राष्ट्रपिता गांधी की कही हुई बातें पढ़ता था तो समझ नहीं पाता था कि सभ्यता की अटारियों पर खड़े हुए नगरवासियों को राष्ट्रपिता गाँवों की ओर उन्मुख होने का संदेश क्यों देते रहते हैं। बंबई और दिल्ली जैसे महानगरों में चौथाई रह चुकने के बाद अब जब मुझे खुद अकेले अपना गाँव याद आता है तो उस लकुटी-लँगोटी वाले फकीर महात्मा गांधी की बात का असली मतलब समझ में आने लगता है, नेहरू जैसे लोकनायक की आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों को गाँवों तक पहुँचाने की अटूट आस्था और आकांक्षा का अर्थ खुलने लगता है और यादों में वह मेरा छोटा-सा पुराना गाँव, परमदेपुर, रह-रहकर उभरता है। जाड़ों में अलाव के आसपास रात के बारह-बारह बजे तक नंगू भइया के पुराने किस्सों का लगातार चलना याद आता है। वे किस्से कुछ ऐसे थे जिनमें एक दिन चार-पाँच घंटों में सुनायी गयी कहानी पूरे किस्से का एक हिस्सा होती थी। पूरा किस्सा दस-पंद्रह दिन तक अनवरत चलता था।

मैं काफी अरसे बाद बंबई से गाँव गया हुआ था। अचानक दूर से नंगू भइया आते दिखायी दिये। मैं चबूतरे से उतरकर थोड़ी दूर पहले ही नंगू भइया का हाथ पकड़कर खड़ा हो गया।

आँखों की जगह जिसे केवल दो खाली गड्ढे मिले हों, वह मुझे इतने दिन बाद पहचानेगा कि नहीं और पहचानेगा तो कैसे, इस जिज्ञासा से मैंने अपने आस-पास खड़े लोगों को अँगुली के इशारे से चुप रहने का संकेत कर दिया। नगू भइया ने मेरा हाथ टटोलना शुरू किया। मेरे दोनों हाथ उलट-पुलट कर अपने हाथ फिराये और बोले, "कन्हैयालाल, कब आये ?"

मैंने कहा, ".. नगू भइया, आपने पहचाना कैसे ?" नंगू भइया बोले, "हर पहचान का अपना एक ठोस साँचा होता है। वह साँचा मुझ अंधे को आवाज के जरिए या फिर टटोल कर पहचान मे आ जाता है।"

नंगू भइया को मैंने अपने घर बसूला चलाते भी देखा था। उनके हर बार बसूला चलाने पर मेरा मन डर से काँप जाता रहा है कि कहीं वे अपना हाथ ही न काट बैठें। लेकिन वह दुर्घटी कभी आयी नहीं। अपने प्रज्ञाचक्षुओं से वे सब देख-सुनकर काम करते थे। तभी से मन मे एक विश्वास जम गया कि नंगू भइया जो कुछ कहते हैं, वही सही होता है। इसीलिए जिस किसी गुत्थी को मैं नहीं समझ पाता था, उसका हल नगू भइया से जाकर पूछता था। एक बार गाँव मे दो फरीकैन मे झगड़ा हो गया। मैं नन्हा नादान बालक, कुछ न समझ पाया कि ये लोग आखिर झगड़ क्यों रहे हैं। यह जिज्ञासा जरूर थी कि जान लूँ सही कौन है। सो जब कुछ समझ न पाया तो नगू भइया के पास पहुँच गया। उनसे पूछा तो पता चला, नगू भइया को बुखार है। वे पुआल के बनाये गद्देदार बिछावन पर रजाई ओढे लेटे हुए थे। मेरी आवाज सुनकर उठने लगे तो मैंने उन्हीं के साथ रजाई मे अपने को छुपाकर बैठ जाना चाहा। मैंने पैर फैलाये तो मेरे पैर कुछ गुलगुली चीज से जा टकराये। पता चला, कुत्तों के दो पिल्ले जो नगू भइया के साथ ही सो भी जाते है, वे इस वक्त भी उनके साथ सो रहे थे। मुझे कुत्तों के पिल्ले पसंद तो थे, लेकिन इतने पसंद नहीं थे कि उन्हें अपने साथ बिस्तर पर सुलाया जाये। फिर भी चूँकि यह काम नगू भइया कर रहे थे इसलिए उसमे कुछ औचित्य अपने आप दीखने लगा था। यह तो याद नहीं कि नंगू भइया से उन दोनों फरीकैन की बाबत क्या बात हुई थी, लेकिन नंगू भइया के रूप में एक सच्चे सहृदय आदमी की तस्वीर मेरे मन मे आज तक घर किये बैठी है। नगू भइया की वही तस्वीर 'ब्रेख्त' का 'काकेशियन चाकसर्किल' देखते हुए अनेक बार उभरी है। *आज भी उभरती है।*

नंगू भइया जिन कहानियों को सुनाया करते थे, उनमे जो प्रेत की तस्वीर थी वह मेरे गाँव मे लगे पीपल के पेड़ के खड़खड़ाते पत्तों से जुड़कर मेरे मन में ऐसी बस गयी थी कि मैं शाम के झुटपुटे मे वहाँ जाते घबराने लगता था। मेरे बाबा और

मां को यह पता हो गया था इसलिए जब कभी कोई काम करने से मैं आनाकानी करता तो मुझे उस कालेदेव के नाम से डराया जाता और मैं वह काम दहशत-भरी बेमन खुशी से कर जाता था। वह चाहे मलाई पड़ा दूध पीने की ख्वाहिश हो या गाना गाने के प्रति विमुख भाव।

मेरा गाना शायद गाने के लिए गांव के हर आदमी को सुरीला लगता था। उनके प्रमाण के लिए मेरे याद किये हुए दो-चार भजन और राधेश्याम रामायण के एकाध खंड मेरे ही तर्कों को काट-कूट बराबर कर देते थे और मुझे अनिच्छापूर्वक भी गाने के लिए मजबूर होना पड़ता था। मैं सोचा करता कि आखिर ये बड़े लोग मेरे इस तरह पीछे क्यों पड़े रहते हैं। तब शायद स्वरों की कशिश का मुझे भान नहीं था। मैं तो अभ्यास, या कहें कि गांव के कुछ लोगों के संकोचवश गाने लग गया था। जब लोग मेरे पिता से कहते कि यदुनंदन, तुम्हारा लड़का बढ़िया गाता है तो मन मारे कोफ्त के भिनक उठना और मुझे लगता कि यह मेरा खुशामदी प्रशंसक जरूर मुझे गाना गाने के लिए पिताजी के जरिये मजबूर करने जा रहा है।

हमारे गांव की रामलीला उन दिनो जोरो पर थी। कहते है करीब पच्चीस तीस मील के घेरे में वैसी सुघड रामलीला नही होती थी। उसमे 'रूपों' से लेकर परशुराम तक गाव के ही लोग होते थे। लड़के की भर्ती पहले सखी से होती थी। बुनियादी शर्त यह थी कि उसे सुरीला होना चाहिए। देखने-सुनने लायक तो उसे शृंगारी लोग बना ही देते थे, उसके चेहरे पर सफेदा-मुर्दाशंख पोत कर।

सखी का प्रमोशन सीता के रूप मे और फिर सीता का लक्ष्मण के रूप मे और लक्ष्मण से राम, बाद मे वही जोड़ी जनक के बन्दीजन और फिर उस क्रम मे धनुष के तोडने के प्रत्याशी रामायण से होता हुआ कोई प्रतिभायुक्त ही परशुराम तक पहुंच पाता था। इस पूरी क्रमोन्नति मे मुझे कोई एतराज नहीं था। एतराज था तो केवल लड़का होकर लड़की का पार्ट अदा करने मे। मुझे लड़की बनना पसंद नही था और मेरी आवाज का सुरीलापन मुझे लड़की बनाने पर आमादा था। मैने एक दिन अपने घर के सामने कालेदेव बाबा के चबूतरे पर हो रहे भजन समारोह में भजन गाते हुए मन-ही-मन यह प्रार्थना की : "यदि नाथ का नाम दयानिधि है तो दया ही करेंगे कभी-न-कभी।"

उन्हें दया यह करनी थी कि मुझे लड़की का पार्ट रामलीला मे न करना पड़े। वाह रे भगवान्, हुआ कुछ यह कि आपस की लड़ाई के कारण कुछ साल तक बंद हो गयी। जितने साल रामलीला बंद रही मै सखी और सीता की उ

पार कर गया। जब फिर रामलीला शुरू हुई तो मुझे लक्ष्मण का पार्ट दिया गया और जो लडका पहले सीता बनता था वह अब परशुराम का पार्ट कर रहा था। क्या 'थ्रिल' था और क्या उत्साह ! कारण सिर्फ इतना कि लडकी बनने से बच गये थे। हम दोनों की जोडी लक्ष्मण और परशुराम के रूप में आसपास मशहूर होती गयी। लेकिन परशुरामजी यानी बाबूलाल भइया मेरे लिए अंदर-ही-अंदर एक तीखा विरोधभाव भी पालने लगे। हुआ यह कि एक बार पास के गाव सरसौल मे मुझे लक्ष्मण का पार्ट करने के लिए आमंत्रित किया गया। बाबूलाल भइया की जगह परशुराम किसी और जगह का बुलाया गया था जिसका फरसा असली पीतल का था। यह उस परशुराम की विशेष योग्यता थी। अपने काम में उसे जो महारत हासिल थी, वह तो थी ही।

तो साहब, शाम को जब हम ताडका-वध के दिन अपने गाव से दो-तीन आदमी साइकिलो पर चले तो पक्की सडक पहुंचते-पहुंचते अंधेरा हो गया। वहा से भी तीन-चार मील आगे जाना था। चादनी रात थी। आसपास बबूल का जंगल। तभी किनारे से दो आदमी लाठी लिये आये और हम लोगो को रोककर खडे हो गये। हमारे साथ के दोनो आदमियो से जूते उतरवा लिये, जो नकदी थी वह ले ली और उनमे से दोनो ने हम दोनों की साइकिलें कंधो पर रखी और चल दिये जंगल की ओर। यह मेरा पहला साक्षात्कार चोरो से था। इसलिए मैं यह कहने को हो आया कि ये लोग हमारी साइकिले कंधो पर क्यो लिये जा रहे हैं। लेकिन संयोग कि कुछ न बोल पाया और तब से यह विश्वास भी पक्का हो गया कि गांव मे सब-कुछ अच्छा-अच्छा ही नही होता। हम अपने गाव पैदल वापस लौट गये क्योंकि रास्ते मे ही 'ताडका-वध' हो गया था। गाव पहुच कर जब बाबूलाल भइया को पता चला तो ईर्ष्या-पगे बोले, "और बोलावै परशुराम पीतल के फरसे वाला !"

इसके बाद बाबूलाल भइया ने खुद कानपुर जाकर अपने लिए मोढाटोली से एक पीतल का फरसा खरीदा। उस पर ब्रासो लगाकर वे हर सप्ताह चमचमाहट पैदा करते और अपनी परशुरामी का बाजार-भाव तेज करते। उनका भाव तेज होते-होते 25 रुपये प्रति परशुरामी तक आ गया। इसके साथ चूंकि बुलाने वालो को न ऊनी बनियान देनी होती थी और न शृंगार के लिए दाढी, इसलिए पाच रुपए उनके पारिश्रमिक मे और जोड़ दिये जाते थे। परशुराम की प्रतिष्ठा इस बात मे थी कि वह तख्त तोड़ सकता है या नही। तख्त मागकर लाया जाता था, रामलीला कमेटी का तो होता नही था। बाबूलाल भइया ने जब पहला तख्त गाव की रामलीला मे तोडा तो तख्त का मालिक दूसरे दिन उनसे उनके घर लडने पहुच गया। जो कहा-सुनी हुई वह

अलग, बाबूलाल भइया को तखत सुधरवाने का जिम्मा अलग लेना पडा। जब तखत सुधर गया तो वही तखत-मालिक बाबूलाल भइया की परशुरामी के गुणगान करने मे सबसे आगे पाया गया।

गांव का यही महज मन लोक कलाओ के संदर्भ मे मेरे अदर घर किये हुए है कि तखत बिगडा तो लड़ आये और बन गया तो तारीफ के पुल बांध आये। भावनाओ के ये छोटे-छोटे ताजमहल वहां रोज बनते और रोज ढहते रहते थे और उन्ही के बीच निखरता जाता था लोकमंच का रूप। लेकिन हमारे क्षेत्र विशेष का लोकमंच भी केवल रामलीला ही नही था, उनके अनेक रूप थे जो ग्रामीण सास्कृतिक जीवन का सुष्ठ रूप सामने रखते थे। क्या आज वे कलाएँ उसी अनुपात मे विकसित हो पायी हैं जिस अनुपात मे हमने जीवन के और क्षेत्रो मे विकास किया है ? सच कहूं तो हमने जो विकास किया, उसमे लोक कलाओ को जहर दे दिया।

संभ्रांतता का जहर

इस सबंध मे मुझे एक घटना याद आ रही है। निश्चित सन्-संवत् के चक्कर मे न भी पड़ें तब भी उस बात को बीते एक-चौथाई शती हो गयी, लेकिन आज तक जब भी लोक कलाओ और कलाकारो की बात आती है, वह बात दिमाग पर दस्तक देती रहती है। हुआ यह था कि हम सब ग्रामीण परिवेश वाले शहरी छात्रो का अच्छा-खासा दल साप्ताहिक छुट्टियो के समय जब गाव जाता, तो अनेक प्रकार से अपने मनोरंजन का कार्यक्रम बनाता। एक बार पता चला कि गाव मे किसी हरिजन की लडकी की शादी है और उसमे बारात वालो की तरफ से 'दहिकी' बजाने के लिए कोई खास आदमी बुलाया गया है। साथ में नाचने के लिए 'लौंडे का नाच' है। गाव मे इसकी काफी चर्चा सुनकर हम तथाकथित संभ्रातो का युवादल उस कार्यक्रम को देखने की योजना बना बैठा। मन मे थोडा संकोच भी था कि लोग देखेंगे तो हम लोगों को क्या कहेंगे।

सूचनार्थ निवेदन कर दूं कि 'दहिकी' डमरू की तरह का एक लोक-वाद्य है, जो बडी नाटकीयता के साथ बजाया जाता है और उसकी नाटकीयता कुछ-कुछ मणिपुर-क्षेत्र के मृदंग बजाने वाले कलाकारों से मेल खाती है। उसके प्रति मेरे मन मे वह आकर्षण बजाने वाले की इस नाटकीयता के कारण भी था और कुछ-कुछ उसके बोलो के कारण। हमारे एक संगीत के जानकार उस्ताद उसके बोलो का सरलीकरण करके यो सुनाया करते थे : "दहिकी के बोल ! अरे क्या कहने हैं, जैसे आदमी ससुरान म

जाये तो दुलहिन की रसोई की रपट बोली जाये ! सुनोगे ?—मई बहुत बना, भई बहुत बना, मई बहुत बना, दुलहिन के मइके""। दुलहिन के मइके"" । भल दाल बनी, भल भात बना । भल दाल बनी, भल भात बना ! दुलहिन के मइके" भई बहुत बना, मई बहुत बना !" और वे इस तरह इन बोलो को मुख से उच्चारित करते मानो सचमुच दहिकी ही बज रही है । हम इस बोल-प्रक्रिया को साक्षात् एक दहिकी-कलाकार से सुनने जा रहे थे, यह सुख पहले से ही कल्पना मे ले रहे थे ।

समय से थोडा विलंब करके हम हरिजन टोले की उस जमात मे पहुचे जहां कार्यक्रम पहले से ही गरमराया हुआ था । हमारे दल ने अपना-अपना स्थान बनाकर खडे हुए लोगों के बीच घुसकर कार्यक्रम देखना शुरू किया । क्या मस्त होकर वह कलाकार 'दहिकी' बजाता था कि उसकी मस्ती आज तक यादो मे बसी हुई है । नाचने वाला लडका बिजली की गति से उछलता, मटकता और गीत गाने वालो के साथ लय-बद्ध होता । मुद्राओ मे थोडी-बहुत अश्लीलता बाराती परिवेश के कारण आ जाती थी, बाकी गीत के बोल बडे मार्मिक और प्रेम-पगे थे । लडका नाचता तो उसके चेहरे के मेकअप को उभारने के लिए बोतल मे तेल भरकर बनाया गया बतेला लिये हुए एक लडका उसके पैंतरो के साथ उसके चेहरे को उजागर करता हुआ ऐसे भागता जैसे नाच का 'डुएट' हो रहा हो ।

नाच खूब जमा, फिर नाचने वाले की पसीने-पसीने हालत को सुखाने के लिए थोडी देर के लिए थमा मी । और वह थमना हम पर कहर ढा गया । दर्शकों मे जो गाव वाले लोग थे उन्होंने नाच से फुरसत पाकर हम लोगो को पहचानना शुरू किया और एक ने जड़ दिया, "अच्छा, बाबू लोग मी आये हैं ! आओ-आओ, बैठो" और 'आओ-आओ, बैठो' ने यानी हम लोगो की संभ्रात उपस्थिति ने अगले दौर के कार्यक्रम मे कलाकारो को इतना आत्मसजग कर दिया कि सारा कार्यक्रम 'बेगार' की-सी अनुभूति देता रहा । यहा तक कि दर्शको मे से ही एक ने कहा भी, "अरे, बाबू लोग हैं तो क्या हुआ, आये तो तुम्हारा नाच देखने है, सो जरा जम के नाचो ।"

हमने अपने आने को सार्थकता प्रदान करने की दलील पेश की, "हा-हां भाई ! हम तो कला की दृष्टि से देखने आये है । नाचो जम के । नाचै नगा गावै ढीठ ।" लेकिन हमारी दलीलो का कोई असर नही हुआ । न दहिकी के बोल सवरे, न घुंघरू के । चिकारा (गज से बजने वाला एक तंतु-वाद्य) मले खानापूरी करता रहा । हम सब उठकर चले आये ।

ग्राज जब इस घटना को याद करता हूं तो मचीय लोक कलाग्रों के कई पहलू हमारे सामने उभरकर ग्राते हैं। सबसे पहले तो यही सोचता हू कि क्या ग्रभी भी दहिकी बजाने वाले वैसे कलाकार हैं या पैदा होते रहे है ? उन्हे या उनकी कला को ग्रागे बढाने, उन्हे प्रोत्साहित करने की दिशा मे हमने क्या भूमिका ग्रदा की ? लोक कलाग्रो ग्रौर उनके कलाकारो को प्रोत्साहन देने का दम भरने वाली हमारी सरकारी व्यवस्था ने उनके लिए क्या किया या क्या कर रही है ? उससे भी बड़ा सवाल.... कि ग्राखिर हम उन लोक कलाकारो की कला को सम्मान देने के लिए उन तक चलकर गये थे तो उनकी कलात्मक स्वस्फूर्ति गायब क्यो हो गयी थी ? इसलिए कि हम ग्रपनी सभ्रातता को जब लोक कला या उनके कलाकारो पर हावी करने लग जाते है या हमारे ग्रनजाने वह उन पर हावी होने लग जाती है तो उनकी सहजता पर एक मुलम्मा चढने लग जाता हैं—लोक कलाग्रों के प्रोत्साहन मे हमने यही गलती की है। हम उन कलाग्रो के पास पराये होकर गये है, उन्हे संरक्षरण देने का दम लेकर उन तक पहुंचे है ग्रौर नतीजा यह हुग्रा है कि हम न उन कलाग्रो के शुद्ध रूप को पा सके हैं ग्रौर न उन्हे शुद्ध रूप मे सरक्षित रख सके है। हमेशा यही हुग्रा है ग्रौर हो रहा है। उन्हे मारने मे हमसे लेकर हबीब तनवीर तक कोई निर्दोष नही है। हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ के कलाकारो को राजधानी जैसे बड़े-बडे महानगरो की चकाचौंध मे घुमाकर 'ग्रागरा बाजार' या 'चरनदास चोर' बुन लिया ग्रौर ग्रपने लिए 'लोक कला के सरक्षक' का खिताब सुरक्षित कर लिया, लेकिन वे कलाकार कितना सरक्षरण पा सके! वे न लौटकर ग्रपने क्षेत्र मे काम करने के काबिल रह गये ग्रौर न सभ्रान्त कलाग्रों के दायरे मे घुस सकने का साहस जुटा सके।

मैंने जैसा पहले बताया कि हमारे क्षेत्र (कानपुर-फतेहपुर के बीच का इलाका) मे रामलीला युगो से चली ग्रा रही है। हमारे ही क्षेत्र मे क्या, पूरे देश मे रामलीला ग्रौर नौटंकी को उत्तर प्रदेश के लोकमंच का प्रतिष्ठित रूप माना जाता है। इस दिशा में हमारे इलाके के दो-चार कलाकार काफी प्रसिद्धि भी पाये हुए थे। एक सज्जन थे जो ग्रपने बचपन-काल मे राधेश्याम कथावाचक की मडलियो मे स्वरूप (राम-लक्ष्मण को रामलीला की भाषा मे 'स्वरूप' कहा जाता है) से लेकर कुंजडा तक बनते रहे थे। पता नही राम कथा मे कुंजडे का कोई स्थान था या नही था, लेकिन पहली बार जब वे सज्जन चौखानेदार लुंगी लगाकर नगे बदन पर गर्दन मे ताबीज लटकाये सब्जी ग्रौर नीबू बेचने की हांक लगाते हुए जनकपुरी के बाजार के दृश्य मे दाखिल हुए थे, तो हम सबको लगा था कि लोकमच मे नवीनता के निरन्तर समावेश की यह प्रक्रिया इसी तरह चलती रही है, जिसके कारण हर लोक-रूप मे समय ग्रपनी प्रतिध्वनि जरूर समाहित

करता रहा है। विकास की इस नयी सीढी को कोई कुंजडा बनकर रामलीला में जोडता है, कोई भारतमाता की आजादी की झाकी बनाकर कृष्ण जन्माष्टमी मे और कोई राजनेता बनकर 'सुल्ताना डाकू' नौटकी मे। नाम उनका कुछ भी हो सकता है। सुविधा के लिए मै उन महोदय का नाम तिवारीजी दे देता हू। लेकिन इस विकास की कहानी मे आप तिवारीजी की अहमियत से इन्कार नही कर सकते। मजा यह है कि कही कोई शिक्षा नही, किसी अकादमी मे कोई पाठ-प्रशिक्षण नही, कोई रिहर्सल नही, कोई स्क्रिप्ट नही—सब स्वरचित, स्वत स्फूर्त, तात्कालिक। यही इन लोक रूपो की विशेषता थी और यही उनकी शक्ति। तिवारीजी जनकपुरी का कुंजडा बनकर आयें या सीता स्वयवर मे काने राजा बनकर, गाव के आसपास की राजनीति, आपसी संबधो की खीचतान, अमफेरे के बहुचर्चित व्यक्तित्व की प्रतिच्छवि उनकी भूमिका में स्पष्ट परिलक्षित होती थी जिससे न केवल लोगो का मनोरजन होता था, वरन् व्यंग्य के जरिये लोगों को एक दिशा-दृष्टि भी मिलती थी। राम के सामने उनका चिल्लाकर कहना कि "जमूरे, अल्ला ने मुझे माना ' तो मैंने नौकरी कर ली!" और फिर इस वाक्य को तकियाकलाम बनाकर नौकरी करने वाले इसान की जिंदगी का पूरा खाका मजाकिया ढग से पेश करते जाना किसी राम-कथा के शास्त्रीय ग्रथ मे भले नही मिले, लेकिन तिवारीजी को इससे लेना-देना नही था, उन्हे रामलीला का मंच अपने लोक जीवन की झलक देने का जोरदार जरिया लगता था। उन्हे इसमे सरोकार नहीं था कि रामलीला के नाट्य-रूप के शास्त्रीय समीक्षक क्या कहेंगे और क्या नही कहेगे; उन्हे केवल सरोकार था अपनी लीला से, उसके जमे हुए रग से। उनका यह रग क्यों जमा। लेकिन अब जब देखता हू कि तिवारीजी हारमोनियम के सहारे यदा-कदा कही-कही राधेश्याम रामायण का पाठ करके किसी तरह पेट पाल लेते है, तो उन पर तरस आने की तो बात बाद मे आती है, अपनी राज्य सरकार पर तरस पहले आता है कि इन्ही कलाकारो के बल पर उत्तर प्रदेश की रामलीला का स्वरूप जिन्दा चला आ रहा है, उन्ही को इतना तक सरकारी अनुदान नही है कि वे अपना पेट कायदे से भर सकें।

सरकार को छोडिये, हमने ही उनके लिए क्या किया! हमने किया यह कि उनकी कला से उनके चरमोत्कर्ष काल मे अपना मनोरजन किया और फिर अवसान काल मे उनका मखौल उड़ाकर 'नचनिया तिवारी' कहकर मुंह बिचकाया। उन्हे लोक कलाकार का सम्मान देना तो दूर, उन्हे ऐसे विशेषणों से अपमानित किया। और चूकि हमारा मन उनके प्रति सम्मान देने को कभी उन्मुख नही हुआ, इसलिए उनकी कला को विरासत मे स्वीकार करने की बात ही नही उठी। कौन उस काम को हाथ मे ले, जिसे करके सुख-सुविधा तो दूर, सम्मान तक नही मिलता। यहा तक कि वह कलाकार

स्वयं अपने परिवार के लोगों को उस दिशा में जाने से विमुख करता है, क्योंकि कोई पिता नहीं चाहता कि उसका बेटा उसी जलालत की जिंदगी जिये जिसमें वह जीने के लिए अभिशप्त है।

पिछली बार जब काफी अरसे के बाद गांव जाना हुआ तो ध्यान आया कि अपनी पसंद के उन लोक कलाकारों के बारे में पूछूँ। एक सज्जन से कामता के बारे में पूछताछ की तो उन्होंने उत्तर में प्रश्न फेंका, "कौन कामता ? नचनहरा ?" मैं सनाका खा गया। कलाकार कामता को लोग अब 'नचनहरा कामता' करके जानते हैं। वाह री हमारी सांस्कृतिक विरासत और वाह री हमारी आधुनिकता !

कामता मिले तो मैंने पूछा, "क्या कर रहे है आजकल ? कलाकार के क्या हाल हैं ?"

बोले, "हाल नहीं, बेहाल हैं। कभी कहीं से कोई भूले-बिसरे प्रोग्राम मिल जाता है तो चले जाते हैं, वरना सिनेमा के आगे कौन देखता है हमारा प्रोग्राम ?"

"कितनी आमदनी हो जाती है प्रोग्रामों से महीने-भर में ?" मैंने प्रश्न किया।

"अब आमदनी का क्या बतायें ! लोगों की हालत भी महंगाई के कारण पतली है। शादी-ब्याह में पहले नौटंकी-खेल बुलाये जाते थे। उसके लिए भी लोग पैसा अलग रख लेते थे शादी-ब्याह में, लेकिन अब 'कम कीमत वाला मशीन' बोलकर लाउडस्पीकर पर रिकार्ड बजवा देते हैं। कोई-कोई 'सौखीन (शौकीन) मिलते हैं जो बुलाते हैं तो सौ-डेढ़ सौ में पूरा प्रोग्राम तय होता है, उसमें दस हिस्सेदार। दस-पंद्रह हमारे जुम्मे भी पड़ जाता है।"

हमारी आँखें खुली-की-खुली रह गयीं, कि ये हमारे लोक कलाकार हैं, जो रात-भर जागकर मुँह पर मुर्दाशंख पोते हमारा मनोरंजन करते हैं और हम उन्हें बदले में केवल दस-पंद्रह दे पाते हैं। मेरा मन उतरता देखकर बोले, "लेकिन हम पैसे के लिए नहीं मरते, हम तो मरते हैं कलाकारी के लिए। हमारी कला को कोई पहचाने—और हमें क्या चाहिए ! थोड़ी जिंदगी रह गयी है वह भी किसी तरह कट ही जायेगी।"

मैंने पूछा, "बंसी मास्टर कहां है आजकल ? क्या करते हैं ?"

कामता की आँखें सजल हो गयीं, "किसको पूछ रहे हो तुम ? वह घिसट-घिसटकर मर गया। क्या कलाकार था ! लेकिन लाश को घाट तक पहुंचाने वाले चार

आदमी नही मिले। किसी तरह हम दो-चार लोगों ने घाट तक पहुंचाकर आग दी।" और कामता की आखें डबडबा आयी।

आखें कामता की ही नही, मेरी भी डबडबायीं थी। बसी मास्टर को मैंने महफिलो मे ध्रुपद-धमार गाते सुना है। क्या जमाना था उनका कि हारमोनियम लादकर उनका शागिर्द चलता था और बसी मास्टर केवल खचाखच भरी महफिल मे सिर्फ गाते थे। बसी मास्टर की आवाज थी कि जादू का तार! उनके साथ मृदग या तबले पर सगत करने के लिए शहर से बजवैया बुलाया जाता था। वही बसी मास्टर गाव के एक नौसिखिया ढोलकिये के ठेके पर दो रोटी वसूलने के लिए आधा-आधा घटा गाते रहे और अंत मे कामता के शब्दो मे 'घिसट-घिसट कर' स्वर्ग सिधार गये। घाट तक पहुंचाने वाले चार आदमी नसीब न हुए।

जब से यह सुना तब से हिम्मत नही होती कि किसी से पूछूं कि ननकू तोरइहा दोनो नथुनो से अब अलगोजा बजाते हैं या नही, या कि उनका लडका उनका हुनर सीख सका कि नही। नही होती हिम्मत कि पूछू किसी से जिन्दा नट के बारे में, जो ढोलक के बोलों पर देह को रबड की तरह तोड़-मोड़कर डगर चलते लोगो से तालिया बजवाते थे और अपने लड़के से बजवाते थे पेट। डर लगता है कि कही कोई यह न कह दे कि उन्हे हमने सभ्रात सभ्यता के जहर से तिल-तिल गलाकर मार दिया।

संगीत नाटक अकादमी : एक नया मोड़

लगभग इन्ही आवश्यकताओ को मद्दे नजर रखकर एक नयी शुरुआत की गयी थी—सगीत नाटक अकादमी के रूप में। 28 जनवरी, 1953 को ससद का सेंट्रल हाल राजनैतिक कर्णधारो के साथ-साथ देश के महान कलाकारो, नृत्यकारो और नाट्य-निर्देशको, अभिनेताओं से खचाखच भरा हुआ था। वह दिन संसद भवन मे भारतीय सस्कृति के लिए समर्पित था। उस दिन दिल्ली मे संगीत नाटक अकादमी का उद्घाटन हो रहा था। राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद ने उद्घाटन करते हुए कहा था - "जिस सास्कृतिक विरासत को हमने अपने पूर्वजो से उत्तराधिकार मे पाया है उसे हमे न केवल सुरक्षित रखना चाहिए, वरन् हम उसे और समृद्ध बना सके, ऐसा प्रयास करना है।" तभी उन्होंने संस्थान-सचालको की ओर सकेत करते हुए भावी खतरों की बात भी कह दी थी कि हमें यह ध्यान रखना होगा कि अकादमी आगे चलकर कही 'सामन्ती लाल फीताशाही' की शिकार न हो जाये।

वस्तुतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के सास्कृतिक क्षेत्र मे कला के संरक्षण

का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण हो उठा। राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के 31 मई, 1952 के प्रस्ताव के अनुसार, 1953 में साहित्य और ललित कला अकादमियों के साथ, संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हुई।

अकादमी की स्थापना से देश के संगीत और नाट्य-जगत् में आशा की एक नयी लहर जागी। किंतु आशा की यह लहर धीरे-धीरे क्षीण होने लगी और राजेंद्र बाबू के वे शब्द लोगों को बार-बार याद आने लगे कि अकादमी आगे चलकर 'सामंती लाल फीताशाही' की शिकार न हो जाये। अकादमी जिन महान उद्देश्यों को लेकर स्थापित की गयी थी, उनकी अवहेलना होने लगी, सही और समुचित मदों में अनुदान का उपयोग न करके ऐसी संस्थाओं और ऐसी व्यवस्थाओं में धन का अपव्यय होने लगा, जो या तो मात्र कागजों पर केंद्रित थी या जिन्हें अकादमी के अधिकारी वर्ग के अलावा कोई नहीं जानता था। उदासीनता का इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता था कि स्थापना के आठ वर्षों बाद तक उसका रजिस्ट्रेशन तक न कराया जा सका। मनचाहे लोगों को प्रश्रय देने के लिए अकादमी के नियमों में भी फेर-बदल कर डालने में संकोच न किया गया। भारत सरकार तक को उसमें हस्तक्षेप करना पड़ा। जांच समिति बिठायी गयी और अंत में 11 सितम्बर 1961 में सरकारी प्रस्ताव के आधार पर नये बोर्ड की स्थापना की गयी।

यह पुनर्गठन उसकी कार्यप्रणाली में सुधार तो लाया, किंतु फिर भी असन्तोष की जो छाया पहले से चली आ रही थी, लाल फीताशाही का जो शिकंजा अकादमी को जकड़ चुका था, उससे पूर्णतया मुक्ति नहीं मिल पायी। 1964 में सितारवादक उस्ताद विलायत खां के द्वारा अकादमी पुरस्कार का अस्वीकार किया जाना इस बात का संकेत था कि पुरस्कृत व्यक्तियों के चुनाव में हो रही अनियमितताओं को दूर किये जाने पर ही पुरस्कारों की गरिमा को बचाया जा सकता है। "ये चुनाव किसी उसूल के बल पर नहीं, किन्हीं और चीजों के बल पर किये जाते हैं," विलायत खां ने कहा था। इस अस्वीकार को अकादमी के अधिकारियों ने 'भावनात्मक कारण' कहकर टाल दिया था, कलाकार के मन पर छाये विक्षोभ की ओर ध्यान देने की उन्होंने कोई आवश्यकता महसूस नहीं की।

अकादमी के इतिहास के इस परिप्रेक्ष्य में अकादमी के नये मंत्री जब डा० सुरेश अवस्थी बने तो उन पर एक बहुत बड़ा दायित्व आ पड़ा था। डा० अवस्थी पिछले तमाम वर्षों से बराबर भारतीय नाट्य और रंग-जगत के निकट सम्पर्क में रहे

हैं। बैंसवारे की धरती में (उत्तर प्रदेश, जिला उन्नाव) 1920 में जन्मे डा० अवस्थी ने 1949 में लखनऊ विश्वविद्यालय से एम०ए० करके वहीं से 'हिन्दी नाट्यरूपों का अध्ययन' पर अपनी पी-एच०डी० पूरी करके डॉक्टरेट की उपाधि ली थी। आकाशवाणी के लखनऊ और दिल्ली केन्द्रों में वे दस वर्ष तक काम कर चुके थे। नाट्य और नृत्य के क्षेत्र में उनकी जानकारी अखिल भारतीय स्तर की थी। उन्होंने सभी भाषा-क्षेत्रों के रंगमंच और नाट्य-प्रदर्शनों को देखा और लोक नाट्य-प्रदर्शन के रूपों और शैलियों का अध्ययन किया था। सन् 1963 में टोकियो में हुई अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य-गोष्ठी में वे भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग ले चुके थे। हिन्दी में नाट्य-प्रदर्शनों की समीक्षा की परंपरा डालकर नयी शब्दावली और शैली का विकास करके, उसे संकुचित साहित्यिक घेरों से मुक्त करने वालों में डा० अवस्थी का नाम अग्रगण्य था ही। इस सबके अतिरिक्त उनमें एक कुशल प्रशासक के भी गुण थे। उनके सहयोग और सचिव-पद के दायित्व के साथ अकादमी ने एशियाई नाट्य परंपराओं, शैलियों और रूढ़ियों को ठीक-ठीक परिभाषित करने में सहयोग दिया, जिसकी आवश्यकता पश्चिमी नाट्य-जगत भी अनुभव करता रहा है; देश की कला परंपराओं और रूपों की तमाम बिखरी सामग्री का संकलन, अभिलेखन भी किसी हद तक किया गया, लेकिन यह काम अभी अधूरा है। उसके लिए अकादमी को दिल्ली के दायरे से निकलकर समूचे देश में बिखरी विरासत को बटोरना होगा, जो बड़ी शीघ्रता से नष्ट होती जा रही है। इस सारे काम में डा० सुरेश अवस्थी के सचिव-पद से कार्य-मुक्त होने के बाद जो तेजी आनी चाहिए थी, उसकी आज तक दरकार बनी हुई है।

फिर भी अकादमी ने इतना तो किया ही कि सारे देश के नाटककारों, नाट्य-समीक्षकों, अभिनेताओं और निर्देशकों को एक सूत्र में बांधा। यह एकसूत्रता का भी परिणाम हो सकता है कि भाषाई रंगमंच की सीमाएं टूटकर भारतीय रंगमंच में समाहित हो चुकी हैं। हिन्दी में बंगला या मराठी नाटक का पहले होना और अपनी मूल भाषा के मंचन से अच्छा होना, इसकी बहुत बड़ी पहचान है।

एक और बड़ी बात जो इन स्वतंत्र्योत्तर दिनों में सामने आयी है वह है अव्यावसायिक रंगमंच के विकास की। इसमें पहले रंगमंच की गतिविधियां कुछ व्यावसायिक संस्थाओं के कार्यकलापों तक सीमित थीं। स्वतंत्रता के बाद के जागरण-काल में अनेक अव्यावसायिक संस्थाएं गहन रूप से रंगमंच के प्रति गहरी दिलचस्पी के साथ सामने आयीं और आज के भारतीय रंगमंच का असली रूप इन्हीं अव्यावसायिक संस्थाओं के समर्पित प्रयास की देन है। इस देन के पीछे कहना न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य-प्रयोगों के साथ भारतीय रंगमंच का परिचय भी एक विशेष महत्वपूर्ण भूमिका

अदा करता रहा है। हमारी अपनी भारतीय नाट्य-परंपरा के साथ अपने युग के अनुकूल नाट्य-शैलियों की तलाश और अंतर्राष्ट्रीय नाट्य-प्रयोगों के साथ जुड़कर नयी प्रयोगशीलता के बीच से नये रंगमंच का जन्म धीरे-धीरे प्रयोगशीलता के सहारे अपने पैर मजबूत करता रहा है, अनेक विदेशी और देशी क्लासिक्स का आधुनिक प्रस्तुतीकरण इस नये रंगमंच की सक्षमता का सबूत देता रहा है। वह चाहे शेक्सपियर का 'मैकबेथ' हो, कालिदास का 'शाकुंतल' हो या शूद्रक का 'मृच्छकटिक' ब्रेख्त का 'पुंटिला' या 'काकेशियन चाक सर्किल'—एक नयी भाव-भंगिमा से आधुनिक जीवन को, आधुनिक मनीषा और उसके द्वंद्व को भाषा मिली है। इस तरह परंपरा से जुड़कर चलने वाले नाटकों में जहां आज के युग-सत्य को उद्भावित करने की कोशिश की गयी, वहीं नयी भाषा ने भी जन्म लिया। यह नयी भाषा, नयी रंगमंच की भाषा, आधुनिक भारतीय रंगमंच की महान उपलब्धि है। हमें नाटक का एक अलग मुहावरा मिला, वह मुहावरा पहले के नाटकों में बेजान था, कन्नड़ के गिरीश कर्नाड हों या मराठी के विजय तेंदुलकर, खानोलकर, पु०ल० देशपांडे या कानेटकर अथवा हिन्दी के मोहन राकेश, भारती, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेंद्र वर्मा, भुवनेश्वर, रमेश बक्षी, सर्वेश्वर, मुद्राराक्षस या मणि मधुकर अथवा बंगला के बादल सरकार—कोई भी किसी भी भाषा का नाटककार हो वह रंगमंच की एक नयी भाषा पा चुका है, जो हमारी भारतीय परंपरा से तो जुड़ी है ही, हमारी लोकनाट्य की शैलियों के भी नजदीक पड़ती है। यह नयी भाषा पश्चिम के अवांगार्द थियेटर के परिचय और संपर्क में और भी विकसित हुई है। हो सकता है कि कुछ लोग इस बात में नाक-भौं सिकोड़ें कि पश्चिम का ऐब्सर्ड थियेटर हमारे लिए बिल्कुल बेमानी है, क्योंकि पश्चिम की युद्धोत्तरान स्थितियों में हर स्थिति बेमानी हो चुकी थी और अब तकनीकी विकास की चरमस्थिति सृजन के बजाय उसके विपरीत, विनाश की पर्याय बन चुकी है। अभी हमारे यहां चीजों के बेमानी होने की वह स्थिति नहीं है। मैंने इस विषय में हिन्दी के अनेक प्रख्यात नाट्य-समीक्षकों से कई बार बातें की है और उनका यही मत रहा है कि ऐब्सर्ड थियेटर हमारे लिए उतना सार्थक नहीं है जितना कि कुछ अवांगार्द नाट्यधर्मियों ने उसे उछाल रखा है, लेकिन यह मानने से उन्हें भी इन्कार नहीं है कि इस ऐब्सर्ड थियेटर ने हिन्दी के रंगमंच को नया मुहावरा देने में मदद तो की है। डा० लाल जैसे भारतीय मिट्टी में रचे-बसे नाटककार भी हिन्दी के लिए, या कहना चाहिए भारतीय रंगमंच के लिए, ऐब्सर्ड थियेटर को बेमानी और अनावश्यक जरूर मानते हैं (ऐसा वे अनेक बार मुझसे अंतरंग बातचीतों में कह चुके हैं) लेकिन उसकी नयी शैली को कहीं-न-कहीं स्वीकार करने में नहीं कतराते।

नये नाट्य-मूल्यो और नयी प्रदर्शन-शैली की खोज मे हमारे अनेक नाटककारों और निर्देशको ने नाटकीय परंपरा का जो नये सिरे से अन्वेषण किया, उसके फलस्वरूप वे आज एक नितात नया नाट्य-रूप विकसित कर सके है और आज भी उस दिशा मे प्रयत्नशील हैं। कन्नड़ के प्रसिद्ध नाट्यकार आद्यरंगाचार्य का 'सुनो जनमेजय' या गिरीश कर्नाड का 'हयवदन' इन नये नाट्य-रूपो के प्रतिनिधि है, जो लोक-शैली और सस्कृत नाटको की परपरागत सूत्रधार शैली को समाहित करके चलते है। हिन्दी में जगदीशचद्र माथुर के 'कोणार्क' मे ऐसा ही शिल्पगत प्रयोग देखने में आया था। हिन्दी मे नये प्रयोगो की दिशा मे डॉ० लाल का 'मादा कैक्टस', और मोहन राकेश के नाटक इसके ज्वलत उदाहरण रहे हैं। मोहन राकेश के तीन नाटक 'आषाढ का एक दिन', 'लहरो के राजहस' और 'आधे अधूरे' न केवल शैलीगत प्रयोग के लिए नयी रंग-चेतना का सही प्रतिनिधित्व करते है, बल्कि नाट्यधर्मा शब्दो की सही तलाश के सबसे सुंदर उदाहरण हैं। राकेश हिन्दी की ऐसी नाट्य-प्रतिमा थे, जो हिन्दी रगमच के इतिहास मे धूमकेतु की तरह छा गये। देखना है कि शब्द की सामर्थ्य के उनके उस काम को किस प्रकार आगे बढाया जा सकता है। शिल्पगत प्रयोगो की दिशा मे पद्य-नाटको मे डॉ० भारती का 'अंधायुग' एक सर्वश्रेष्ठ मान्यकृति है। रमेश बक्षी का 'देवयानी का कहना है', अच्छे नाटको की गणना मे आता ही है, सुरेन्द्र वर्मा का 'सूर्य की अतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' शिल्प और भाषा दोनो की उपलब्धि का अच्छा उदाहरण है। डॉ० लाल का नाटक 'अब्दुल्ला दीवाना' और 'व्यक्तिगत' अपनी साफबयानी के लिए सदैव याद किया जायेगा। भाषा की नयी तलाश के सशक्त हस्ताक्षर के रूप मे मणि मधुकर ने अपनी पहचान बनायी है। नयी राजनैतिक चेतना को सामाजिक सरोकारो से जोड़कर चलने वाले नाटको की रचना करने वालो मे सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और मुद्राराक्षस ने गहरी छाप छोड़ी है। निश्चय ही नाट्य-भाषा की तलाश की यह गति आगे अपना विशिष्ट स्थान बनायेगी।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि नाट्य-रचना के क्षेत्र मे ही नही, नाट्य-निर्देशन और अभिनय के क्षेत्र मे नयी प्रतिभाओ का उदय हुआ है। महानगरो को ही लें तो ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, शभू मित्रा, तृप्ति मित्रा, उत्पल दत्त, श्यामनद जालान, सुलभा देशपाडे, अकलनदा समर्थ, देवयानी, अरविंद देशपाडे, अमोल पालेकर, हबीब तनवीर, कारथ, अमरीश पुरी, रामगोपाल बजाज, मोहन महर्षि, राजेद्र नाथ, सत्यदेव दुबे अनिल चौधरी, भानु भारती, एम० के० रैना, प्रभात कुमार भट्टाचार्य, बशी कौल, मनोहर सिंह, सुरेखा, उत्तरा बावकर, विमल लाट, प्रतिमा अग्रवाल, कमलाकर सोनटक्के वीरेन्द्रनारायण, विनोद नागपाल, कविता नागपाल, बृजमोहन शाह....जैसे महत्वपूर्ण

पहलुओं पर अभी उतना गहरा ध्यान नही दिया गया, जितना दिया जाना चाहिए। ये सभी पहलू निर्देशक की परिकल्पना और उसके ज्ञान के सहारे ही उभरने के लिए छोड दिये जाते हैं। चद गिने-चुने नामो को छोडकर इन पहलुओं पर गम्भीरता से काम करने वाले लोग नही मिलते। जैसे नाट्य-सगीत मे मोहन उप्रेती ने जितना योगदान किया, उतना श्रम और योग शायद ही किन्ही अन्य सगीतकारों ने किया हो। प्रकाश-सयोजन मे सारे भारत मे तापस सेन का नाम ऐसा चमका है कि इस तरफ और कोई चमकता नाम मुश्किल से नजर आता है। अब तापस बाबू को सिनेमा और व्यावसायिक दुनिया हडपती जा रही है। जरूरत है नयी प्रतिभाओं के इस दिशा में आने की।

अपने नाट्यादोलन की तस्वीर को कभी हम अपनी नाट्य-पत्रिकाओ के आईने मे देखे तो हमे जरूर निराशा होती है। मैंने ऊपर 'नटरंग', 'रंगयोग' तथा 'इनैक्ट' का जिक्र किया है। इनकी कुछ जोडीदार पत्रिकाएँ भी नाट्य-जगत् में दिखायी पड़ती है, किन्तु जितना भी है, वह बहुत अपर्याप्त है। 'नटरंग' ने हिन्दी नाट्य-पत्रकारिता को जितनी गम्भीरता और गरिमा के साथ निभाया है और निभा रहा है, उतना तो खैर और कोई दूसरी पत्रिका नही कर पायी, लेकिन 'नाट्य-वार्ता', 'अभिनय संवाद', 'रगायन', 'रंगभारती', 'छायानट' और अंतर्देशीय नाट्य-पत्र 'अभिनय' की भूमिका को कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। आकार मे सबसे छोटी किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से सबसे बडी लगने वाली लघु-लघु मात पत्रिका 'अभिनय' अब रंगमच संबधी सूचनाओ के लिए एक अनिवार्यता-सी लगने लगी है। ये सभी पत्रिकाएँ आर्थिक सहयोग की अपेक्षाएँ रखती है और अच्छे लेखको की भी, जिससे इनमे भरती की सामग्री के बजाय सुष्ठ, सुरुचिपूर्ण रचनात्मक लेख दिये जा सकें और भारतीय रंगमंच का आपसी आदान-प्रदान भी उभर सके। नये नाटक छापने के लिए अब रंग-पत्रिकाओ के अलावा स्थान रह ही कहा गया है! नतीजा यह होता है कि जो नाटक लिखे भी जाते है, वे रंग-कर्मियों तक साइक्लोस्टाइल रूप मे ही पहुँचते है, छपे रूप मे नही। इन नाट्य-पत्रिकाओ मे वे छप सकें, ऐसी व्यवस्था बनाना हम सब का धर्म है।

हिन्दी रंगमंच की अनेक समस्याओं की बात जब भी चलती है तो दर्शक वर्ग की समस्या सबसे पहले आती है कि हिन्दी रगमच का दर्शक कहाँ है? मैंने इस समस्या को काफी नजदीक से देखा-जाना है। बम्बई मे सत्यदेव दुबे ने जब हिंदी नाटक करने शुरू किये थे तो तेजपाल हाल का आधा भाग भरा नजर आता था तो अपार खुशी होती थी, लेकिन उनमे से कम-से-कम आधा दर्शक फोकटिया होता था। बम्बई मे अब जाकर देखता हूँ तो दूरदराज जुहू के पृथ्वी थियेटर मे भी नाटक देखने जाने पर टिकट मिलने के लाले पड जाते है। इसका सीधा अर्थ यह है कि रंगमच का दर्शक सिनेमा के दर्शक

की तरह तो नही बढा, लेकिन अब यह स्थिति भी नही है कि अच्छा नाटक हो और लोग देखने न जायें। दिल्ली मे रेपर्टरी का 'बेगम का तकिया' और 'चोपड़ा कमाल नौकर जमाल' आज भी होते हैं तो दर्शको का टोटा नही रहता। इसलिए दर्शको वाली 'मिथ' भले ही धीरे-धीरे टूट रही है, लेकिन टूट जरूर रही है। यह स्थिति है सुखकारी, लेकिन इतनी सुखकारी भी नही है कि उसके बल पर नाटको के अर्थशास्त्र का सतुलन सम्भव हो सके। अच्छे नाटको के प्रति दर्शकों को आकर्षित करना आवश्यक है। यह काम भी जब अभिनेता, निर्देशक और लेखक को करने पडते हैं तो उनके उत्साह का पारा उतरता है। इस दिशा मे समीक्षक अवश्य सहायक हो सकते है।

समीक्षक सहायक हो सकते हैं, इसका यह मतलब नही है कि समीक्षा मे कोई सहायता प्रेरित बेईमानी करने की ओर मैं सकेत करना चाहता हूँ। समीक्षा को लेकर तो पिछले कुछ दिनो रंग-जगत् मे वाद-विवाद तक छिड़ा रहा है। दिल्ली मे एक गोष्ठी मे यह विवाद कड़वाहट उगलने तक पहुँच गया था। कुछ निर्देशको ने प्रमुख पत्रो के सम्पादको से यह माँग की कि यदि वे निष्पक्ष समीक्षा न छाप सके तो समीक्षा के स्थान पर प्रदर्शन का विवरण-भर देकर इतिश्री कर दी जाये। ऐसी माग के पीछे यह उद्देश्य था कि तटस्थ और पूर्वाग्रहमुक्त समीक्षा होनी चाहिए, किसी रंग-दल से सबद्ध व्यक्ति को समीक्षक नही होना चाहिए... आदि आदि। लेकिन सवाल का असली मुद्दा यह नही, यह मुद्दा व्यक्तिगत राग-द्वेष का अधिक है। इससे परे अगर इसमे कोई मुद्दा है तो इतना कि क्या समीक्षक को सिर्फ एक निर्णायक बनकर अपना निर्णय दे देने के लिए समीक्षा करनी चाहिए या रंगरत लोगो की सहायता का मन बनाकर उनकी कमजोरियाँ बताते हुए उनकी समस्याओ को भी समीक्षा के साथ उभार दिया जाया करे, ताकि दर्शक किसी प्रदर्शन-विशेष के प्रति कोई अनावश्क वितृष्णा न पाल सकें।

समीक्षक अपनी जगह सही होता है कि वह प्रदर्शन को देखकर जो अनुभव करे वह कहे। निश्चय ही यह सम्मति उसकी अपनी क्षमता, रग-दृष्टि और दायित्व पर निर्भर रहती है। लेकिन रंगकर्मी की आज की जो जद्दोजहद है, एक तरह से रगकर्म को उठाने का पूरा बोझ है उस पर, उनकी तरफ से बिल्कुल आँखें मूद लेना भी नाट्य-समीक्षा के लिए उचित नही माना जा सकता। असल मे दृष्टि इस पर होनी चाहिए कि नाट्य-समीक्षा के पीछे दृष्टि क्या है, क्योकि हर कटु आलोचना हतोत्साह करने के अभिप्राय से नही लिखी होती। बहुत सारी कटु समीक्षाओं के पीछे समीक्षक का रगकर्म मे गहरे जुड़े होने के पीछे का दर्द भी उसमे बोलता है जो पुष्ट रग-आदोलन को आगे बढाने का अनिवार्य गुण है। मतही, बेमकसद की तारीफें सुनकर नाट्य-दल न दर्शक जुटा सका है और न रंग-आंदोलन को आगे बढा सका है। माना तारीफ वाली समीक्षा

न समझदारी का द्योतक होती है और न ईमानदारी की। इसलिए इस बारे में जहाँ नाट्य-निर्देशकों को एक स्वस्थ दृष्टि अपनानी होगी, वहीं समीक्षकों को अपने गम्भीर दायित्व के प्रति सजग भी होना पड़ेगा। आखिर संवादहीनता के ध्रुवों पर चलकर न समीक्षक अपना अंतिम उद्देश्य पा सकेगा और न नाट्य-निर्देशक, जबकि उद्देश्य दोनों का होता है कि रंगकर्म जन-जीवन से जुड़कर हमारी जिंदगी की सही पहचान बन सके। अब अगर इस पहचान को नाट्य-लेखक ने भोथरा किया हो तो समीक्षक को इसको सामने लाने तो दीजिये। हो सकता है इस पहचान को सामने लाने में निर्देशक और नाटककार दोनों ने अपना पूरा दायित्व निभाया हो और अभिनेता ने उसमें रेड मार दी हो, तो समीक्षक उस दोष पर अँगुली नहीं रखेगा तो दोष-मुक्ति कैसे होगी? अभिनय के बारे में एक बार ब्रेख्त से पूछा गया था कि अभिनय की सबसे बड़ी कसौटी आपके सामने क्या है, तो उसने कहा था कि अभिनेता अपने वर्तमान से आगे का संकेत देकर अभिनय को जीवंत नहीं बनाता, तो वह अभिनय हमें संतोष नहीं देता। बातचीत का वह टुकड़ा मैं यहाँ देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा। प्रश्नकर्ता ने पूछा था —

• आपके नाटकों में अभिनेतागण हमेशा धुआँधार सफलता बटोरते हैं। आप उनसे संतुष्टि महसूस करते हैं?

— नहीं।

• इसलिए कि उनका अभिनय बुरा होता है?

— नहीं, अभिनय बुरा नहीं, गलत होता है।

• किस तरह का अभिनय करना चाहिए उन्हें?

—जैसा एक वैज्ञानिक युग की चेतना से संपन्न दर्शक के लिए होना चाहिए।

• मतलब?

—उन्हें अपने ज्ञान का उपयोग करना चाहिए।

• किस चीज का ज्ञान?

—मानवीय संबंधों का, मानवीय व्यवहार का, मानवीय क्षमताओं का।

• ठीक है। इसका उन्हें ज्ञान होना चाहिए। लेकिन वे इसका प्रदर्शन कैसे करें?

—सजग रूप से, सांकेतिक रूप में, विवरणात्मक ढंग से।

• तो अभी कैसे करते हैं?

—मंत्रमुग्ध करके। स्वयं एक स्थिति में डूबकर अपने साथ दर्शक को वहां ले जाते हैं।

- जैसे ?

—जैसे कि मान लो विदा लेने की स्थिति का अभिनय करना है तो वे दर्शक में विदा के मूड पैठाने की कोशिश करेंगे। उसके आगे की बात किसी को नहीं सूझती। हर कोई बस इतना महसूस कराके रह जाता है। उससे आगे नहीं सोच पाता।

अब अगर ब्रेख्त की बात को कोई समीक्षक मन में बैठाकर किसी अभिनेता का अभिनय जांच रहा है तो वह अपेक्षाएँ करेगा ही, यह तो रंगमंच की श्रेष्ठता को आगे लाने का एक आवश्यक कदम है।

असल में नाटक एक सम्मिलित समूह की देन होता है, एक व्यक्ति की नहीं। नाटककार से लेकर, मैं कहना चाहता हूँ कि दर्शक तक (समीक्षक ही क्यों) उसका एक हिस्सा होता है, तभी नाटक पनपता है। मैंने लंदन में 'ओह कलकत्ता' के जो प्रदर्शन देखे, उनमें तो दर्शकों को बाकायदा अभिनय का अंग मानकर उन्हें मंच पर भी आमंत्रित कर लिया जाता है। जरूरी नहीं कि दर्शक मंच पर अभिनय करने जाये तभी वह नाटक का हिस्सा बने; वह अपनी प्रतिक्रिया से, उपस्थिति से नाटक की सफलता-असफलता का भागीदार बन सकता है। मैं इस दिशा में बहुत निराश नहीं हूँ।

जनता का नाटक

मुकुल

नाट्य परम्पराएं समाज, समय और स्थान के अनुसार परिवर्तनशील होती हैं। कला की अन्य विधाओं की तुलना में नाटक में सामाजिक विकास क्रम के अनुसार कहीं जल्दी और स्पष्ट बदलाव आता रहा है। किसी समय एवं स्थान में सामाजिक संरचना में पूरी एकरूपता नहीं होती और भिन्न व्यवस्थाएं एवं संस्थाएं बनी रहती हैं, सामाजिक जीवन की यह विभिन्नता नाटक में भी अभिव्यक्त होती है। यही कारण है कि विशिष्टवर्गीय नाटक अपने दावे के बावजूद कभी लोकशैलियों की जगह नहीं ले पाता बल्कि इसके विपरीत कई प्रकार से दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। दरअसल नाटक के विकास एवं नये प्रयोगों के विषय में कई भ्रांत धारणाएं प्रचलित हैं कि यह आधुनिक नाटकों में ही संभव है और शास्त्रीय या परम्परागत या लोक नाटक रूढ़ और समयगत जरूरतों से कटे होते हैं। वास्तविकता यह है, पारंपरिक या लोक नाटकों का अस्तित्व लगातार परिवर्तन एवं विकास पर निर्भर है और लोकशैलियों में स्वतंत्रता और लचीलापन है। लोक कलाकार निरंतर प्रयोगशील होता है और अपनी कला में स्थान, जनता, जीवन एवं संवेदनाओं की भिन्नता के अनुसार परिवर्तन लाता रहता है। फिर भी, वह 'एक नाटक' का निर्माता होने का दावा नहीं करता और न ही इस रूप में कभी स्वीकृत किया जाता है। आज "नये" या "प्रयोगात्मक" नाटकों में ज्यादातर 'फॉरमेट' की ताजगीवाले नाटक शामिल किये जाते हैं, लेकिन यह संरचनात्मक कल्पना ही किसी नाटक को सार्थक नहीं बनाती, बल्कि अकल्पनीय घटनाओं, बंधे-बंधाये पात्रों और स्थितियों की अपेक्षा जनता के जीवन के विभिन्न पक्षों को ऐतिहासिक प्रक्रिया में द्वंद्वात्मक ढंग से प्रस्तुत करने वाले नाटक भी नये, सामाजिक रूप से सार्थक, समयगत और जनता में संवाद करने वाले हो सकते हैं।

किसी नाटककार या रंगकर्मी के 'फार्म' और कंटेन्ट' की तलाश को मुख्य रूप से कौन सी बात प्रेरित करती है ? मनोरंजन और प्रतिक्रिया। रूढ़ परम्पराओं की जकड़न को खत्म करके नाटक की जनता के बड़े हिस्से के साथ संवाद स्थापित करने की ताकत कायम करना। आज जनता के नाटक की पहली शर्त इसकी जनता के साथ संवाद कायम करने की क्षमता है। इस शताब्दी के दौरान नाटक का सबसे महत्वपूर्ण विकास इसके सामाजिक आधार का विस्तार है। आज नाटक इसी रूप में जनता के लिए खेला जा रहा है और सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में इसका बहुआयामी योगदान है। नाटक को जनता के नजदीक आने की इस यात्रा के दौरान इसके तकनीकी पक्ष सहित विषयवस्तु और शिल्प-शैली में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। जनता के नाटक का विचार भिन्न-भिन्न रूपों और उद्देश्यों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है लेकिन इसका प्रस्थान बिन्दु जनता के विभिन्न हिस्सों और खासकर कामगार जनता के लिए एक नवीन और जीवंत नाटक उपलब्ध कराना है। जनता के नाटक के लिए प्रतिबद्ध विभिन्न गुणों की पहचान उसके सामान्य उद्देश्यों की अपेक्षा सामान्य दुश्मन के आधार पर कहीं आसानी से की जा सकती है। इन सबों ने नाटक के सतहीपन, या "कला-कला के लिए" के नाम पर होने वाली बौद्धिक बकवास या सीमित दर्शक वर्ग और केवल शहरों में नाटकों के प्रदर्शन के खिलाफ प्रतिक्रिया व्यक्त की है। ये सभी प्रचलित नाट्य रूप दर्शक, शैली और इसके वैचारिक तत्व के प्रति गहरे रूप से असंतुष्ट हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दौर में जनता के लिए नाटक करने की कोशिशें समाजवाद के एक मुख्य राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने और आधुनिक औद्योगिक राज्यों के आंतरिक संघर्ष एवं द्वन्द्व तेज होने के साथ शुरू हुई। इस दौरान जनता के नाटक के प्रायः सभी कार्यकर्ता समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थे। जनता के नाटक द्वारा उनकी सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों पर विचार करना तथा मजदूरों को सस्ती दर पर सुविधाजनक समय एवं स्थान पर नाटकों के प्रदर्शन जैसी बातों पर भी विचार किया जाता था। लेकिन, इसके पूर्व यूरोप में नाटक के लोकतन्त्रीकरण के विचार और कार्यक्रम जोर पकड़ने लगे थे। इस दौर की मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें एक साथ कलागत और सामाजिक सुधारों पर जोर दिया गया था। यूरोप के थियेटरों की संरचना के विरोध में आवाज उठायी गयी जो सामाजिक आर्थिक वर्गगत स्थिति के अनुसार दर्शकों को विभाजित करती है और इस विभाजन के परिणामस्वरूप कुछ लोग ही नाटक और स्टेज देख पाते हैं और बाकी सामने वाले दर्शकों को ही देखते रह जाते हैं। 1972-76 में निर्मित वेगनर फेस्टिवल थियेटर में पहली बार बालकोनी, बाक्सों और अच्छी-बुरी सीटों के सामाजिक विभाजन को खत्म कर दिया गया।

इस समय के जनता के नाटक सामाजिक त्योहारों के अवसर पर राष्ट्रीय एकता का संदेश फैलाते थे। सामाजिक उत्सव प्रधान और राष्ट्रीय एकता एवं धार्मिक मूल्यों का संदेश ही जनता के नाटक का विचार था। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरांत रूस और जर्मनी में आंदोलन और प्रचार के उद्देश्य से एक नया आंदोलनकारी नाटक विकसित हुआ। इस चरम राजनीतिक द्वन्द्व की स्थिति में नाटक को सामाजिक परिवर्तन के एक मुख्य औज़ार के रूप में प्रयोग किया जा रहा था। रूस में बोल्शेविक क्रांति के बाद क्रांति के उद्देश्यों के प्रचार के लिए, जनता से संवाद स्थापित करने के लिए नयी नाटक तकनीक अपनायी गयी थी। आंदोलनकारी नाटकों के दौर में सामूहिक गायन और अखबारी तरीका भी काफी प्रचलित था। अखबारी शैली के द्वारा सोवियत संघ में अशिक्षित जनता को नयी सरकारी नीतियों से परिचित कराया जाता था, अमेरिका एवं यूरोप के अन्य देशों में समाचार बताकर टिप्पणी की जाती थी। रूसी क्रांति के आरंभिक वर्षों में शिक्षा के जन-कमिसार लूनाचारस्की ने नाटक के द्वारा सामाजिक उत्सवों को नये संदर्भों में प्रदर्शित करने का व्यापक आंदोलन चलाया था। जनता के नाटक को एक खास वर्ग या समूह नाटक के रूप में भी देखा जा रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद समाजवादी देशों में जनता के लिए अलग-अलग भाषाओं में नाटक किए जाने लगे थे। अमेरिका का "ब्लैक थियेटर मूवमेंट" आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व के खिलाफ ब्लैक पैंथर और यूनाइटेड अदर्स के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है। चीन में जनता के नाटक के संदर्भ में एडगर स्नो और अन्ना लुई स्ट्राग के विवरण इसकी प्रभावकारी शक्ति का विस्तृत उल्लेख करते हैं। चीन-जापान युद्ध के दौरान कांगसी में गोर्की स्कूल के एक हज़ार छात्रों को प्रशिक्षित करके साठ ग्रुपों में विभाजित कर दिया गया था। ग्रामीण उनके भोजन और एक गांव से दूसरे गांव जाने का प्रबंध करते थे। कोमिंताग सिपाही इन रेड ड्रामेटिक ग्रुपों को सीमा के नज़दीक के शहरों में आने का संदेश भेजते थे। जापान युद्ध शुरू होने पर सरकार ने "नाटक के द्वारा देश को बचाओ" का नारा ही दिया था। हज़ार लड़कों द्वारा शुरू किया गया नाटक एक व्यापक आंदोलन में बदल गया जिसमें 2,00,000 नाट्य लेखक, निर्देशक, अभिनेता-अभिनेत्री शामिल थे। गुरिल्ला युद्ध करने वालों के साथ भी 200 नाट्य दल थे।

भारत की भी एक गौरवशाली सांस्कृतिक परंपरा रही है और शास्त्रीय एवं लोकनाट्य शैलियों, संगीत, साहित्य, चित्रकला और दूसरी विधाओं में जनता के जीवन के विभिन्न पक्षों की सुन्दरता, उनके अनुभवों, प्रेरणाओं और उद्देश्यों को अभिव्यक्त किया गया। लेकिन, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस संस्कृति की जीवंतता और जनप्रतिबद्धता का ह्रास हो रहा था और साहित्य एवं दूसरी विधाओं में प्रतीत की

अन्धी गुफाओं, रहस्यवाद और अबौद्धिकता मे शरण लेने की प्रवृत्ति का जोर था। अंग्रेजो के आगमन के बाद विशेषकर बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में उत्पादन के नये तरीकों, नये सामाजिक सम्बन्ध, नये सामाजिक द्वन्द्व और समस्याओं ने भारतीय जीवन को कई रूपों मे प्रभावित और परिवर्तित किया। इस दौर की मानवीय भावनाओं एव उद्देश्यों को अभिव्यक्त न करने वाले कला और साहित्य की जनता के जीवन में कोई सार्थक भूमिका नही रह गयी थी। परिवर्तनशील विश्व में पिछली शताब्दी के कलाकार और लेखक आमतौर पर संस्कृति के विकास, इसके नये रूप ग्रहण, परिवर्तन, नये मूल्य और जनता के संघर्षों को व्यक्त करने में मात खा गये थे। जनता खुद अपनी कला विकसित करने और उसे अपनी आजादी के सघर्ष की एक जीवित अभिव्यक्ति बनाने मे भी विफल रही थी। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे घटनाओ मे और तेजी आ गयी थी। साम्राज्यवादी विस्तार की सीमा प्रकट हो गयी थी और इन साम्राज्यवादी देशों मे विश्व बाजार के नये बटवारे के लिए एक गहरा अन्तर्द्वन्द्व शुरू हो गया था। शासक वर्ग के इन अन्तर्द्वन्द्वो के साथ ही मजदूर वर्ग और उपनिवेशो की जनता का संघर्ष तीव्र हो रहा था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कला और साहित्य मे सामाजिक वास्तविकता के चित्रण की जरूरत महसूस की जा रही थी। अब ज्यादा सख्या में लेखक एकरस और आत्मगत लेखन के दायरे से बाहर आकार अपने लेखन मे सामाजिक परम्परा की कई कुरीतियों का पर्दाफाश करते हुए सामान्यत: देश की जनता के साम्राज्यवादी आधिपत्य से मुक्त होने की इच्छा को जनता की समझ मे आ सकने वाली भाषा में व्यक्त करने की कोशिश कर रहे थे। इसी दौर मे कई राष्ट्रीय गीत लिखे गये, जलसों-जुलूसो, सभाओं में गाये गये और लोगो की प्रेरणा के स्रोत बने। समकालीन इतिहास में घटनाओं की तेजी, संस्कृति और स्वतन्त्रता पर फासीवादी हमले, वर्तमान की विकृतियो को ध्वस्त करके एक सुन्दर भविष्य निर्मित करने की सम्भावना के कारण सवेदनशील साहित्यकार और कलाकार आजादी के लिए जनता के सघर्ष की भावनाओ के साथ सक्रिय रूप मे जुड रहे थे। फासीवाद और साम्राज्यवाद के आक्रमण से संस्कृति की रक्षा के लिए प्रेमचन्द और टैगोर जैसे लेखक प्रगतिशील लेखक आन्दोलन मे शामिल हुए। नृत्य के क्षेत्र में उदयशकर ने अतीत की जडता मे प्रस्थान करके "जीवन की लय" और 'श्रम और मशीन" जैसे बैले के माध्यम से देश के राजनीतिक और औद्योगिक यथार्थ को प्रदर्शित किया। नाटक के क्षेत्र में भी यह परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। नाटको मे जनता की फासीवाद विरोधी भावनाओं, किसान-मजदूर वर्ग की जीवन स्थितियो, उनमे एकता की जरूरत और जुझारू वर्ग के रूप मे उनके उदय की भावनाओ को व्यक्त किया जाने लगा। यह कोरी प्रतीकात्मकता, मध्य-युगीन मूल्यो, मध्यवर्गीय मानसिकता और प्रेम के फूहड़ प्रदर्शन वाले नाटकों से अलग,

भारत के प्रगतिशील नाट्य आन्दोलन की ऐतिहासिक शुरुआत थी। चीन के जननाट्य आन्दोलन की तरह देश में यहां-वहां छात्रों के कई सांस्कृतिक दस्तों ने लोगों को शिक्षित और संघर्ष के लिए उत्साहित करने के लिए नाटक किये। किसान और मजदूर वर्ग के आन्दोलनों के विकास के साथ ही इस वर्ग के लेखकों एवं कलाकारों में एक नयी आस्था और गतिशीलता आयी। ग्रामीण टोलियां और कारखाने के मजदूरों ने राष्ट्रीय एकता, मजदूरों के राज और प्रगतिशील शक्तियों की एकजुटता के कई गीत खुद लिखे और घूम-घूमकर गाये। राष्ट्रीय अस्तित्व और स्वतन्त्रता के लिए किये जाने वाले महान संघर्षों के ज्वार में एक आजाद दुनिया में आजाद भारत के लिए गांवों की मिट्टी और कारखानों की जमीन से नये सांस्कृतिक आन्दोलन की शुरुआत हुई। कला विधाओं-लोकशैलियों में जनता की जीवंत भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई। आन्ध्र और मलाबार के किसान बालकों, बंगाल के किसानों और बम्बई की कामगार जनता ने धड़कते हुए गीत गाये। पारम्परिक नृत्य शैली कथकली जिसे ट्रावनकोर के राजा और वल्लतोल जैसे आदर्शवादी कवियों ने मन्दिरों और महलों में कैद कर दिया था, जनता की क्रांतिकारी भावनाओं का वाहक बन गयी। यह स्पष्ट है कि अन्तत जनता ने खुद अपनी फौरी जरूरतों के अनुसार नये नाट्य आन्दोलन की शुरुआत की। इसी पृष्ठभूमि में नाटक, गाना, नृत्य की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को संगठित-संयोजित करने के लिए इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा) की स्थापना हुई जिसकी जड़ें भारतीय जनता के सांस्कृतिक जागरण में थी। पूर्व में जापानी साजिशों, जनता का भयंकर शोषण एवं दमन और जनता की ताकत के शक्तिशाली उभार ने लेखक और कलाकार, किसान और मजदूर, छात्र और बुद्धिजीवी को एक सूत्र में पिरो दिया। इस परिस्थिति में जिस प्रकार जनता के अलग-अलग हिस्सों की एकता एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी उसी प्रकार इस स्वस्थ और जीवंत एकता एवं विचारों के आदान-प्रदान से जनता के नाटक का जन्म लेना भी अनिवार्य था। यहां इप्टा के गौरवशाली कार्यक्रमों का विवरण देना सम्भव नहीं है लेकिन यह जनता का नाटक सीधा-सरल और जनता की समझ में आने वाला था और वह इसके निर्माण और प्रदर्शन में भी हिस्सा ले रही थी। इस जन नाट्य आन्दोलन में विभिन्न भाषाओं में समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों, मजदूरों-किसानों के जीवन संघर्षों को मुखर करने वाले अनेकों सशक्त नाटक लिखे गये। क्षेत्रीय भाषाओं में प्रदर्शन के द्वारा देश के विभिन्न भागों की जनता को एकजुट करने में मदद मिली। गांवों-गांवों में जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों को चित्रित करने वाले अनेक सोवियत और चीनी नाटक भी खेले गए थे।

आजाद भारत में देश की वामपंथी धारा में सत्ता के चरित्र के प्रति राजनीतिक

एवं विचारधारात्मक मतभेद और व्यक्तिगत स्वार्थों के साथ शीत युद्ध की गहरी राजनीति के दबाव में कला और साहित्य में प्रगतिशील धारा क्षीण पड गयी और व्यक्तिगत कुंठा, पीडा, विकृत सेक्स और मध्यवर्गीय आग्रहो का चित्रण प्रधान हो गया। लेकिन तीसरी दुनिया के अन्य देशो की ही तरह भारत पर भी, जिसकी अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः पूंजीवादी दुनिया तथा उसके बाजार से ही बंधी हुई है, पूंजीवादी संकट का पूरा-पूरा असर पडा। इससे अर्थव्यवस्था का असाध्य सकट और भी भयानक हो उठा जो व्यापक जन-असन्तोष एव जन उभारों और देशों मे बढती आर्थिक एव राजनीतिक अस्थिरता के रूप में अभिव्यक्त हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे पूंजीवादी देशो में गहरी आर्थिक मन्दी के कारण पूंजीवादी समाज के अन्तर्विरोधो मे उत्पन्न संकट और भी गम्भीर हो गया। इसके विपरीत, समाजवादी देश समाजवादी निर्माण की दिशा मे प्रगति कर रहे थे। साथ-ही-साथ एशिया, लातिन अमेरिका और सारी दुनिया की साम्राज्यवाद विरोधी शक्तिया साम्राज्यवादियों के विरुद्ध सक्रियता से सग्राम कर रही थी। कला-संस्कृति के विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया मे अतीत के प्रगतिशील आन्दोलन ने गौरवशाली, कलात्मक, विवेकपूर्ण और अच्छी चीजो को सगृहीत करके एक बार फिर देश की जनता के सामूहिक श्रम की उपज के रूप में पतनशील संस्कृति के खिलाफ जन संस्कृति का सूत्रपात हुआ और नाटक एव कला की सभी विधाओं मे तानाशाही, पुराणपंथी और प्रतिक्रियावादी विचारो के खिलाफ जनता के वर्ग संघर्ष को तीव्र करने के उद्देश्य की अभिव्यक्ति हुई। अतीत की उपलब्धियों के उत्तराधिकारी नाट्यलेखक, रगकर्मी ने वर्तमान में अतीत को बेहतर रूप देने और क्रांतिकारी आदोलन का निर्माण करने मे मजदूर वर्ग के प्रतिनिधियो के रूप मे संघर्ष का बीडा उठाया और हर प्रकार के पुराने-नये कलात्मक तकनीक का इस्तेमाल करके राजनीतिक अन्तर्वस्तु का सम्प्रेषण किया। इस संघर्ष की एक तीव्र और प्रकट अभिव्यक्ति के रूप मे सारे देश मे चौराहा या नुक्कड़ नाटकों की शुरुआत हुई। देश की कामगार किसान जनता से रगकर्मियो का सवाद कायम हुआ जिससे उनके मनोरंजन के साथ सामाजिक आर्थिक जीवन के अन्तर्विरोधो का यथार्थवादी चित्रण कर जनता के विभिन्न हिस्सों की एकता पर जोर देते हुए शासक वर्ग के छलावो और फूटपरस्त ताकतों का पर्दाफाश करके शोषक और शोषित वर्गों के संघर्ष को भी आच दी जाने लगी।

देश मे उत्पादक शक्तियो और विज्ञान एव तकनीक के विकास मे कला की सामाजिक भूमिका के निर्वाह के लिए एक अनुकूल तकनीकी और भौतिक परिस्थिति है। इसमें व्यापक समुदाय का कला के साथ सघन और विविध सम्बन्ध कायम हुआ है। लेकिन, कला का तत्त्वगत चरित्र उत्पादन के सम्बन्धों और उस सम्बन्ध को निर्धा-

रित करने वाले भौतिक उत्पादन के बुनियादी नियम के विशिष्ट चरित्र पर निर्भर करता है। भारत के पूंजीवादी समाज का बुनियादी नियम अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति है। आधुनिक तकनीक के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर कला का पुनरुत्पादन और खपत होने के कारण पूंजीवादी उत्पादन के नियमों की स्थापना हुई है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में वितरण के जन साधनों का उपयोग जन संस्कृति या महान कला के प्रसार के लिए नहीं होता बल्कि इसमें पूंजीवादी समाज के खोखले, अस्तित्वहीन तबके की पतनशील भावनाओं को पुष्ट करने वाली प्रतिक्रियावादी, एकरस कला का प्रचार किया जाता है। ये कलाएं पूंजीवादी समाज में कामगार जनता के अपने सर्जनात्मक श्रम से अलगाव को गहरा बनाती हैं जो अपने श्रम के उत्पादन और सामाजिक संबंधों में भी अपनी पहचान खो दिये होते है। इन कलाओं में विचारों को नपुंसक बना दिया जाता है, भावनाओं का गला घोट दिया जाता है और लोगों की गहन उत्सुकता को बाजारू बना दिया जाता है।

इस देश के सिनेमाघरों, रेडियो और दूरदर्शन द्वारा पेश किये जाने वाले कथित कलात्मक उत्पादकों का लाखों-लाख लोग उपयोग कर रहे हैं। संवाद के वृहद् साधनों द्वारा बड़े पैमाने पर वितरित किये जा रहे इन कलात्मक उत्पादनों की एक निश्चित वैचारिक भूमिका है : जनता को उसके दायरे में कैद रखना, उसे अपनी स्थिति में झूठी दिलासा देना और उन खिड़कियों को बन्द कर देना जिससे वह सही मानवीय दुनिया की झलक पा सके और अपने अलगाव की चेतना के साथ उसे खतम करने के साधनों के विषय में सचेत हो सके। यह समूची मानवीय जाति और एक शोषणमुक्त सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए सचेतन रूप से संघर्ष करने वालों का गहरा नुकसान है। अनिवार्य रूप से जनता की रुचि और कलात्मक मापदण्डों को इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि वह कुछ उत्पादनों की प्रशंसा करे और विशेषकर उन सबको नकारे जो उच्च कलात्मक मूल्यों या खोखले—संकीर्ण दायरे में कैद दिमाग को मुक्त करने के वैचारिक तत्वों का सृजन करते हैं। आर्थिक दृष्टि से कलात्मक उत्पादनों की जन खपत से अधिकतम मुनाफा और वैचारिक दृष्टि से पूंजीवादी समाज के अलगाव और आदमी को पण्य वस्तु में परिणत कर देने वाले विसंस्कृतकारी सम्बन्धों की मजबूती।

भारत के पूंजीवादी समाज के इस सांस्कृतिक परिदृश्य में जन कलाओं और जनता में संवादहीनता की स्थिति को ज्यादातर बूर्जुआ अर्थों में ही परिभाषित किया गया है और यह कहा जाता रहा है कि हमारे समय की महान कला समाज के सम्पन्न, समझदार तबके की समझ में ही आ सकती है और महान कला हमेशा विशिष्टवर्गीय

होती है। यह सिद्धान्त कला की सामाजिक भूमिका को पूरी तरह नकारता है, एक खास सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में मानवीय चेतना और सम्बन्धों के निर्धारण के इस ऐतिहासिक तथ्य को पूरी तरह अनदेखा करता है कि पूँजीवादी व्यवस्था जनता के साथ-साथ खुद कलाकार को भी उसके गुणों से वंचित करती है और शब्दों की व्यापकता से अर्जित होने वाली कलाकार की शक्ति खतम कर देती है। मानवीय अनुभवों को गहरा और समृद्ध करने और जनता की क्रान्तिकारी चेतना विकसित करने का कार्य एक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी कार्य है और यह वास्तविक भौतिक सम्बन्धों के आधार पर मजदूर वर्ग अपना अलगाव खतम करके, जनता के सभी हिस्सों को मुक्त करने के क्रान्तिकारी कार्य की जिम्मेदारी महसूस करके और उसकी तैयारी करके पूरा करता है। कलाकार इसका निरपेक्ष द्रष्टा नहीं होता बल्कि इस संघर्ष निर्माण की प्रक्रिया मे उसकी एक सक्रिय भूमिका होती है।

जननाट्य आंदोलन की गौरवशाली परम्परा, भारत का राजनीतिक आर्थिक विकास, संस्कृति का व्यापक पूँजीवादीकरण और जनता को उसके कला माध्यमों से वंचित करने की साजिश, परिस्थितियो मे लगातार परिवर्तन के सन्दर्भ में ही आज चौराहा नाटक के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाना चाहिए। हमारे देश मे न केवल नाटक देखने-दिखाने की परम्परा रही है, बल्कि ऐसी कई नाटक मंडलियां थी जो गाव-गांव में घूमकर सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक नाटकों का प्रदर्शन करती थी। ये नाटक काफी तन्मयतापूर्वक देखे जाते थे। लेकिन, ग्रामीण एव शहरी नाटको में भिन्नता थी। शहरों के प्रबुद्ध रंगकर्मी नाटकों में ताजगी के लिए बेचैनी के साथ गांव, प्रदेश और दूसरे देशों में खोज-बीन कर रहे थे। इसलिए, साठ के दशक में विदेशी नाटकों के भरपूर रूपातर और फार्म की नकल हो रही थी। ये नाटक भी देश की जनता के जीवन से अलग थे। विदेशी स्क्रिप्टो की सार्थकता नही के बराबर थी इसलिए नाटककारो की एक नयी पीढी ने अपने देश की नाट्य परम्पराओं की नयी खोज शुरू की। उनके सामने लोक शैलियो का विशाल खजाना था। इस दिशा में कुछ सार्थक प्रयास हुए, लेकिन मुख्य सवाल यह है कि इसकी समझ क्या थी और जनता के साथ सम्बन्ध क्या था? इस नयी धारा का मुख्य उद्देश्य जीवन के साथ नाटक का सम्बन्ध स्थापित करना था। लोक शैलियो ने आधुनिक भारतीय नाटकों को एक नयी भाषा दी है। लोक शैलियों और आधुनिक या पाश्चात्य शैलियों के सम्मिश्रण से एक नया नाट्य रूप निर्मित करने की कोशिश हुई है लेकिन तेंदुलकर, गिरीश कर्नाड, हबीब तनवीर के ये नये प्रयोग भी जनता से कटे रहे। इनका ध्यान जनता की शैलियों को जनता के लिए जीवित रखने पर नही था बल्कि नये नाटको की स्थापना के लिए उन शैलियों को

'उधार' ले लिया गया था। इसलिए, मुख्य सवाल शहर की बहुसंख्यक आबादी, औद्योगिक मजदूर, तकनीकी कामगार, नौकरीपेशा, राजनीतिक कार्यकर्ता, छात्रों--युवकों के लिए नाटक की खोज है। नाटक के पुराने और नये मिश्रित रूपों मे शहरी जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति नही हो रही थी और शुद्ध ग्रामीण फॉर्म के नाटकों से पूरी तरह संवाद स्थापित नही हो रहा था। इसलिए चौराहा नाटक लोक-कला की मिश्रित शैली के रूप में विकसित हुआ है जिसमें लोक शैली के तत्त्व विद्यमान हैं और आधुनिक नाटकों का पुट है। इसका सम्बन्ध जनता के बड़े हिस्से के साथ है लेकिन यह नयी लोक शैली मुख्यतः शहरों की सीमा में है।

चौराहा नाटक आज कला विधाओं मे सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य विधा है और इसकी लोकप्रियता को ही कई बार इसके खिलाफ बुर्जुआ आलोचना का एक मुख्य बिन्दु बनाया गया है। इसलिए, चौराहा नाटकों के संदर्भ मे "लोकप्रिय कला" के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करना उचित होगा। पूँजीवादी देशों मे कला के व्यावसायीकरण के द्वारा सामान्य जनता की रुचियों को विकृत करके एक विशिष्टवर्गीय कला का रूप गढ़ा जाता है। ऐसे समाज मे विशिष्टवर्गीय, अल्पसंख्यक एवं सामान्य जनता जैसे खाने में विभाजित नही होने वाली एक सचमुच लोकप्रिय कला के लिए जगह नहीं होती। लेकिन विशिष्टवर्गीय, आभिजात्यपूर्ण और सीमित कला मे रुचि रखने वाली पूँजीवादी व्यवस्था मे भी एक ऐसी लोकप्रिय विधा निर्मित करना सम्भव होता है जो जनता के बहुमत से जुड़ी हो। यह वृद्धि मात्रात्मक और गुणात्मक होती है। एक लोकप्रिय कला विधा की कसौटी अपने अस्तित्व के एक खास ऐतिहासिक दौर में अपने देश और जनता की इच्छाओं-भावनाओं को पूरी गहराई और समृद्धता के साथ अभिव्यक्त करने के सिवाय और कुछ नही होती है। "क्यों और कैसे चौराहा नाटक लोकप्रिय है" सवाल के जवाब में कला और खूबसूरती जैसे तर्क काफी नही है बल्कि महत्त्वपूर्ण वह नैतिक और राजनीतिक तत्त्व हैं जो कि इस ऐतिहासिक विकास के एक निश्चित दौर में दृढ़ संकल्पकारी जनता की सघन भावनाओं की संपूर्ण और ठोस अभिव्यक्ति है। वैचारिक और नैतिक मूल्यों से संचालित न होने वाली खूबसूरती निष्प्राण होती है। नाटक शुद्ध और सरल रूप में न केवल 'इसके तथ्यों की खूबसूरती' या एक 'आत्म केन्द्रित खूबसूरती' है जो कि उसके फॉर्म मे पाया जा सकता हो बल्कि एक निश्चित फॉर्म है जिसमे एक खास तथ्य गुण और पहचाना जाता है। जिस तरह आदिवासी नृत्य जनजीवन का एक सहज अंग है—यह शहरी दर्शकों के लिए सिनेमा की फिल्म, नाटक मंडली का नाच नहीं जिसे अपनी सुविधानुसार, इच्छानुसार मंच पर करा लिया जाए। जब केवल अपने कौतूहल की पूर्ति के लिए धन और ताम झाम का प्रयोग कर

जन जीवन की झांकी देखने का प्रयास किया जाता है, तब जीवन की अनुभूति का बाजारीकरण उसे निष्प्राण बना देता है। चौराहा नाटक अपने-आप में नाटक का कोई विशिष्ट फार्म नहीं है जिसे उसके अन्तर्वस्तु और उद्देश्यों से अलग करके देखा जाय और दर्शकों के नये मनोरंजन के लिए मुक्ताकारों के जरिये उसकी मूल भावना को भ्रष्ट कर दिया जाय। चौराहा नाटकों की लोकप्रियता अपने समय की सही कला की लोकप्रियता है क्योंकि यह अपने समय के प्रति प्रतिबद्ध है। यह एक सुन्दर भविष्य के साथ जीता है लेकिन साथ-ही-साथ वास्तविक जीवन के आन्दोलनों के साथ भी पूरी जीवतता से जीता है। यह जनता की हवा है और इसकी जीवंत भाषा है, इसीलिए एक ऐसी कला है जो एक नयी जनसंबंद्ध 'खूबसूरती' का सृजन करती है।

'जन' और सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'लोगों' के बीच गहरा अन्तर है जैसा मात्रात्मक और गुणात्मक, मानवीय और अमानवीय तथा सक्रिय और निष्क्रिय मे है। चौराहा नाटकों के सन्दर्भ मे 'जन' का एक विशेष अर्थ है। यह जन इतिहास की जीवित उर्वर और उत्पादक शक्ति है, ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया की चालक और सृजक शक्ति है। वर्गों मे विभाजित समाज मे हम जनता को पूरी जनसंख्या या समाज के अलग-अलग, अमानवीय हिस्से के रूप मे नही पहचान सकते हैं। जनता सामान्य और अमूर्त भी नही है, हर ऐतिहासिक दौर में इसकी एक ठोस अभिव्यक्ति होती है। जनता का वर्गीकरण ऐतिहासिक तौर पर सामाजिक वर्गों और श्रेणियों मे होता है जो अपनी क्रियाओं द्वारा बुनियादी भौतिक एवं जीवन मूल्यों का सृजन करते हैं और शोषण के विरुद्ध संघर्ष के द्वारा इतिहास का प्रगतिशील विकास क्रम बनाये रखते हैं। हर ऐतिहासिक दौर में जनता की शक्ति तत्त्व रूप में कामगार जनता मे मूर्तिमान होती है, इसलिए चौराहा नाटक अपने सम्पूर्ण रूप में प्रधानतः इसी संघर्षशील जनता से संबोधित है। कामगार जनता अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन में वर्गीय हितों और ऐतिहासिक दायित्वों के अनुसार संचालित होती है, सफलतापूर्वक पूंजीवादी संस्कृति के व्यावसायिक हथकंडों का सफाया कर सकती है। सर्वहारा अपने व्यक्तिगत एवं भौतिक जीवन में अलगाव के खात्मे के लिए संगठित, चेतन संघर्ष के द्वारा पूंजीवादी के वस्तु रूप में तब्दील मनुष्यों का निषेध करता है और ऐसे समाज के लिए संघर्ष करता है जिसमें आदमी साधन न होकर साध्य होता है। इस प्रकार लोकप्रिय और कामगार जनता के लिए खेला जाने वाला चौराहा नाटक जनता की समझ में आने वाला होता है क्योंकि यह जनता की अभिव्यक्ति के अपने तरीकों को स्वीकारता है, उन्हें समृद्ध करता है, यह उनके सिद्धान्त को अपनाता है और उसे मजबूत बनाता है, दूसरे वर्गों के साथ जनता के सर्वाधिक प्रगतिशील हिस्से को नेतृत्वकारी अग्रिम बन्ने

के रूप में चित्रित करता है, परम्परा को जोड़ता है और आगे बढ़ाता है और एक बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष करने वाली कामगार जनता को विरासत के गुणों से समृद्ध करता है। शोषणविहीन समाज की स्थापना के आदर्श से प्रेरित होकर जनता की जुझारू चेतना को विकसित करने वाले, जनता की आशा-आकांक्षाओं को मुखर करने वाले नाटक शोषक वर्ग और इसकी बलात्कारी संस्कृति के खिलाफ होते हैं, इसलिए इस तरह के नाटकों और प्रतिबद्ध रंगकर्मियों को व्यवस्था के हमले का भी सामना करना पड़ता है।

चौराहा नाटकों का राजनीति के साथ स्पष्ट सम्बन्ध है। एक चौराहा रंगकर्मी और राजनीतिक कार्यकर्ता एक ही वृहत्तर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संघर्षरत हैं और उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना एक ही संस्था के तहत विकसित होती है, लेकिन वे अपने कार्यक्षेत्र की विशिष्ट प्रकृति और सीमा के अनुसार काम करते हैं। चौराहा नाटकों का वैचारिक परिदृश्य मानव संबंधों के विशिष्ट ऐतिहासिक क्षेत्र में होने वाली घटनाओं पर प्रतिक्रिया व्यक्त करके उसकी अन्तर्दृष्टि देना भर नहीं है बल्कि उन विचारों एवं भावनाओं को मुखरित और उत्साहित करना है जो सामाजिक परिवर्तन में सहयोगी हो सकते हैं। ये नाटक मानवीय भावनाओं के जरिए राजनीतिक संघर्षों को चित्रित करते हैं। चौराहा नाटकों में मनोरंजन और प्रशिक्षण को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता है। एक तरफ नाटक प्रयोगों द्वारा लोगों का मनोरंजन करने की क्षमता विकसित करता है और दूसरी तरफ घटनाओं के संवेदनशील चित्रण द्वारा जनता को संगठित होकर घटनाओं को अपने हित में मोड़ने के लिए प्रेरित करता है। चौराहा नाटक राजनीतिक नाटक है, जन संघर्ष एवं राजनीतिक संघर्षों के साथ जुड़ा है। मलयालम, बंगला, कन्नड़, तेलगु, हिन्दी और मराठी में "तुमने मुझे कम्युनिस्ट बनाया", "काला हाथ", "बेलछी," "आया चुनाव,", "इव सल्वाडोर" जैसे अनेक नाटक लिखे गये है। केरल में चालीस-पचास के दशक में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास में "तुमने मुझे कम्युनिस्ट बनाया" का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 1979 में सातवीं लोकसभा के चुनाव अभियान में बंगाल में उत्पल दत्त ने "काला हाथ" खेला था, दिल्ली में जन नाट्य मंच ने चुनाव पर कई नाटक खेले थे। बिहार में "युवा नीति" और "दिशा" ने प्रेमचन्द की कई कहानियों के नाट्य रूपांतर एवं अन्य नाटकों के द्वारा महाजनों के शोषण, बंधुआ मजदूरी के खिलाफ अभियान चलाया है।

नाटकों के जनता के साथ एकाकार होने के संघर्ष को महत्वपूर्ण मानते हुए ब्रेख्त ने इन नाटकों को वैज्ञानिक और द्वन्द्वात्मक घोषित किया था : यह वैज्ञानिक है क्योंकि इसमें सामाजिक जीवन की यन्त्र रचना को उपयोगी रूप में उजागर करने की कोशिश

की गयी है, इसका तरीका मत सम्बन्धी यांत्रिक नकारात्मक का न होकर विचार और द्वन्द्व का है, इसलिए द्वन्द्वात्मक हैं। सभी कलाएं जीवन की महान कला की पूरक हैं और ब्रेख्त ने "जीवन की कला" में 'स्टेज और ऑडिटोरियम" के सम्बन्धों मे परिवर्तन लाकर महान योगदान किया है। नाटक कई बार दर्शकों के तंतुओं पर एक विशिष्ट असर डालने की कोशिश करके, आदिम झटका मारकर और अस्त-व्यस्त रूप में आदमी की भावनाओं को उकसाकर वास्तविक जिन्दगी का प्रतिबिंब होने का भ्रम पैदा करते हैं; नाटक यथार्थ की विकृत या अधूरी तस्वीर भी पेश करते हैं और जनता को ठहरा हुआ एकांगी, जड़ चित्रित करते हैं, नाटक चमत्कृत करने वाले तकनीकों का भी सहारा लेते हैं। चौराहा नाटक भी इस दलदल में फंसता है और यथार्थ के यांत्रिक सरलीकरण एवं नाटको में ही क्रांति सम्पन्न कर देने की जल्दबाजी और सही समझदारी के अभाव का शिकार होता है। *यही कारण है कि अ ज के अधिकांश चौराहा नाटक एक ही सांचे में* ढले हुए लगते हैं और विभिन्न नाटको के बंधे-बंधाए पात्र घुमा-फिराकर एक संवाद बोलते जान पडते हैं। इनमें कथ्य और पात्रों की विविधता नही है। सामाजिक-आर्थिक जीवन की बुनियादी समस्याओं को उजागर करने वाले, अर्द्धसामंती संस्कारों एवं रूढियों को झकझोरने वाले नाटकों की कमी है। चौराहा नाटक उन सीमाओं में कैद हो रहा है जो इसकी सीमा नहीं है: नाटककार जनवादी चेतना के प्रसार के रास्ते मे आने वाली पहली बाधाओं—जाति, धर्म औरतों की गर्हित स्थिति – को दूर करने वाले नाटकों का सृजन करने की चुनौती से बच रहे हैं। चौराहा रंगकर्मी देश में छोटे-छोटे पाकेटों की तरह हैं और ज्यादातर शहरों से जुड़े हुए हैं।

देश के राजनीतिक-आर्थिक जीवन में लगातार घटनाएं घटित हो रही हैं और तदनुसार बहुआयामी परिवर्तन लक्षित हो रहे हैं। नयी समस्याएं नये तकनीक की मांग करती हैं। यथार्थ बदलता है तो साथ ही उसे प्रतिबिम्बित करने वाले साधन भी बदलते हैं। शोषक हमेशा एक ही चेहरे मे नजर नहीं आता उसके चेहरे का नकाब हमेशा एक ही तरीके से उतारा नहीं जा सकता है। सामाजिक-आर्थिक जीवन की सच्चाइयों को व्यक्त करने वाला कोई भी ईमानदार सस्कृतिकर्मी यह जानता है कि सच्चाई को दबाने और व्यक्त करने के कई तरीके हैं। देश की विरूपताओं, मजदूर-किसान एवं जनता के दूसरे हिस्सों के जीवन एवं संघर्षों का करुणामय चित्रण भी किया जा सकता है और तथ्यपरक विवरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है, उसकी कहानी भी कही जा सकती है और व्यंग्य भी बनाया जा सकता है। नाटक में यथार्थ को तथ्यात्मक या काल्पनिक या फेंटेसी के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। अभिनेता सच्चाई को व्यक्त करने के लिए चित्र-विचित्र कपड़े और साज-सज्जा को भी

मदद ले सकते हैं और किसी विशेषता के बगैर भी काम कर सकते हैं। यह यहां हमारे विचार का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि जनता इसका निर्णय करना अच्छी तरह जानती है। 'इप्टा' के नाटक और दूसरी कलाविधाओं में जनआकांक्षाओं एवं विश्वासों के चित्रण की शुरुआत का जनता के प्रगतिशील हिस्से ने हार्दिक अभिनन्दन किया था। कामगार जनता सभी चीजों को इसमें निहित सच्चाई के आधार पर जांचती है, वह सच्चाई को व्यक्त करने वाली किसी भी नई पद्धति का भरपूर स्वागत करती है। लेकिन वह कला-कला के लिए या अपनी इच्छा पूर्ति के लिए किए जाने वाले किसी भी खेल को अन्ततः पूरी तरह अस्वीकार कर देती है। भारत का पूंजीपति वर्ग नाटकों में भोंडा हास्य, सांप्रदायिक भावनाएं, सेक्स की घटिया उछाल भर देना चाहता है और साथ ही नाटकों को बड़े-बड़े आधुनिक प्रेक्षागृहों, राजधानियों में कैद रखना चाहता है। कला के शब्दवादक शिक्षित, प्रौढ़ व्यक्ति अक्सर 'जनता के *अशिक्षित होने,"* और *"कला नहीं समझने"* की शिकायत करते है, इसलिए एक अतिसीमित वर्ग के लिए उच्चस्तरीय कलात्मक आयोजन होते हैं। आज का आंदोलनकारी चौराहा नाटक न केवल हजारों लाखों कामगार जनता द्वारा स्वीकृत और अभिनंदित है बल्कि वह इन नाटकों के निर्माण एवं प्रदर्शन में हिस्सा लेती है, खूबसूरत कलात्मक तकनीक और अभिव्यक्ति के तरीकों का प्रदर्शन करती है। इसमें यदि कहीं कच्चापन है भी, तो वह बुर्जुआ नाटकों का बासीपन और कच्चापन नहीं है। लेकिन, *नाटक केवल जनता के बीच आने से ही जनता का नाटक नहीं हो जाता है।* *जनता* का नाटक विकसित करने की दिशा में काम करने वाले अपने उद्देश्यों और तरीकों में काफी समानता के बावजूद राजनीतिक संघर्ष के कुछ सामयिक मुद्दों को छोड़कर अब तक इसे संगठित आंदोलन का रूप नहीं दे पाए हैं, और लेखकों-साहित्यकारों-रंगकर्मियों के जनवादी संगठन का यह कार्यभार है कि वे चौराहा नाटकों के संगठन एवं विकास को एक चुनौती और ऐतिहासिक कार्यभार के रूप में स्वीकार करें।

('उत्तरगाथा'—12 में प्रकाशित)

आम आदमी का नाटक और कमखर्च हिन्दी रंगमंच

●

जयदेव तनेजा

मोटे तौर पर मेरे लिए आम आदमी के नाटक और रंगमंच का अर्थ आम आदमी की जिन्दगी और नियति से प्रत्यक्षतः जुड़ा वह व्यापक और बहुआयामी रंगकार्य है जिसे न्यूनतम साधनो-सुविधाओं और उपकरणों के माध्यम से प्रशिक्षित-अप्रशिक्षित, व्यावसायिक-अव्यावसायिक प्रतिबद्ध-अप्रतिबद्ध (पार्टी से) लोक या नगर कलाकारों द्वारा आम आदमी के बीच कहीं भी और किसी भी रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमे जन-नाट्य-संघ (इप्टा) का महत्त्व और योगदान सम्भवतः सर्वाधिक उल्लेखनीय और प्रशंसनीय है। परन्तु मैं इस लेख में सन् 1960 के आसपास प्रारम्भ होने वाले उस व्यापक रंगमंच आंदोलन में उस गरीब और ग्लैमरहीन रंगकार्य की चर्चा कर रहा हूं जिसे इस प्रयोग-बहुल संश्लिष्ट और अभिजात्य रंग आन्दोलन की बहुचर्चित विशिष्ट उपलब्धियों की चकाचौंध में अलग से रेखांकित नहीं किया जा सका।

हमारे महानगरों में, आधुनिक तकनीकी और वैज्ञानिक उपकरणों से युक्त समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच का विकास, आर्थिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न तथा विकसित पश्चिमी देशों के प्रभाव के कारण हुआ। इस विकास की चरम उपलब्धि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के 'दातो की मौत' जैसे कल्पनातीत महंगे, भव्य और विराट् प्रदर्शनों (स्पैक्टेकल्स) के रूप में सामने आयी। परन्तु धीरे-धीरे यह बात साफ तौर से महसूस की जाने लगी कि भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से गरीब परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न देश के रंगमंच के विकास का यही एक मात्र और सही रास्ता नहीं हो

कता। सम्मोहक काल्पनिक कथाओं, रंग-वैभव और उन्नत तकनीक समृद्ध व्यावसायिक फिल्मों की अभूतपूर्व लोकप्रियता ने भी रंगकर्मियों को भारत में रंगमच के भविष्य को लेकर चिन्तित कर दिया। परिणामस्वरूप कुछ प्रतिभाशाली और कल्पनाशील रंगकर्मियों ने इस समस्या को अत्यन्त गम्भीर और चुनौतीपूर्ण ढंग से स्वीकार किया और पाया कि—

"हम अपने को एक ऐसी बन्द गली में रुके हुए पा रहे हैं जिसकी सामने की दीवार को इस या उस ओर से बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता पाकर ही तोड़ा जा सकता है। परन्तु मुझे लगता है कि हम इस बन्द गली में इसलिए पहुंच गये हैं कि हमने दूसरी किसी गली में मुड़ने की बात सोची ही नहीं—किसी ऐसी गली में जो उतनी हमवार न होते हुए भी कम-से-कम आगे बढ़ते रहने का मार्ग तो दिये रहती।" तकनीकी दृष्टि से विकसित, समृद्ध और सश्लिष्ट रंगमच मे अलग हटकर भारतीय रंगप्रयोगों की सम्भावनाओं की नयी दिशा का यह सकेत मोहन राकेश ने 1968 में दिया था। 1971–72 में नेहरु फैलोशिप के शोध-कार्य के दौरान वह प्रतीकात्मकता और सादगी को रंगमच का मूल तर्क मानने लगे थे। उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया कि "शब्द, अभिनेता और इन दोनों का सयोजन करने वाले निर्देशक के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नहीं है जो नाटकीय रंगमच की अनिवार्य शर्त हो।" और रंगमच के इस महत्त्वपूर्ण आयाम का नाटकीय उद्घाटन शिमला रंगशिविर (वर्कशाप) के अन्तर्गत प्रस्तुत उनके पार्श्व नाटक 'मैड डिनाइट' अथवा 'छतरियां' की विविध प्रस्तुतियों से हुआ जिनमें उन्होंने भाषा के विखण्डन द्वारा पार्श्वध्वनियों के विविध संयोजनों और मचीय मुद्राओं-क्रियाओं के विविध प्रयोगों से दर्शक के मन में विश्लेषणातीत अर्थों की अनुगूंज उत्पन्न करने का प्रयास किया।

पश्चिम से प्रभावित तकनीक समृद्ध महानगरीय अभिजात्य रंगमंच से हटकर आधुनिक संदर्भ में भारतीय रंगमच की वैभवपूर्ण एवं समृद्ध-सुदीर्घ परन्तु लुप्तप्रायः परम्परा को तलाशने के प्रयास में रंगकर्मियों के एक वर्ग ने अपनी लोकधर्मी नाट्य परम्परा के उपयोग पर बल दिया तो दूसरे वर्ग ने पारंपरिक शास्त्रीय रंग तत्वों के आधुनिक प्रयोग पर। हबीब तनवीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "आज भी, हम भारत की ड्रामा परम्परा की प्राचीन आभा तथा ओजस्विता को गावों में सुरक्षित पाते हैं। वस्तुतः ये ग्रामीण ड्रामा दल ही हैं जिन्हें प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है।" और हबीब तनवीर ने सचमुच उन लोक कलाकारों को उनकी भाषा, कथा, तकनीक और अभिनय-गायन पद्धति के साथ शहरी प्रेक्षकों के सामने ला खड़ा किया। छत्तीसगढ़ी नाचा और राजस्थानी ख्याल के फॉर्म में 'गांव का नाम ससुराल, मेरा नाम

दामाद' तथा 'ठाकुर पृथ्वीपाल सिंह' जैसे नाटकों ने ग्रपनी मिट्टी की गंध, ऊर्जा ग्रोर सहजता के कारण यहां के दर्शकों को प्रभावित किया। इन नाटकों की उपलब्धि 'चरनदास चोर' के रूप मे देखी जा सकती है। दूसरी ग्रोर हबीब तनवीर ने नाटक को सामाजिक-राजनीतिक चेतना से प्रत्यक्षत: जोड़ने ग्रोर जन सामान्य के बीच ले जाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास भी किया। 'सूत्रधार-61 (ग्रोर 77)' तथा 'इन्दर सभा' इसके प्रमाण हैं। परन्तु सम्प्रेषणीयता तथा लोकप्रियता की दृष्टि से इधर 'जसमा ग्रोदन,' 'लैला-मजनू' तथा 'हो होलिका' जैसे उन लोक-नाटकों का प्रभाव बढ़ रहा है जिन्हें प्रशिक्षित शहरी कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

इसी रंग-प्रयोग का एक दूसरा ग्रायाम है शास्त्रीय रंग तत्त्वों का ग्राधुनिक नाटकों में प्रयोग तथा प्रशिक्षित शहरी कलाकारों द्वारा उनका प्रस्तुतीकरण। इस परम्परा की शुरुग्रात जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' तथा धर्मवीर भारती के 'ग्रंधायुग' से होती हुई लक्ष्मीनारायण लाल के 'सगुनपछी', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', मणि मधुकर के 'नाटक पोलमपुर का', 'दुलारी बाई' तथा बलराज पण्डित के 'लोग उदासी' तक चली जाती है। परन्तु ग्रपनी तमाम विशेषताग्रों ग्रोर महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका के बावजूद इस वर्ग के ग्रधिकांश नाटक विभिन्न रंग तत्त्वों के 'जेस्टाल्ट' मे उद्भूत होने वाली किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का संकेत नहीं दे सके। विशिष्ट दर्शक वर्ग के इन नाटकों मे थोड़ा ग्रलग हटकर सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' जैसे उन शहरी नाटकों का स्थान है जो जन सामान्य की समस्याग्रों पर ग्राडम्बरहीन पद्धति से बोलचाल की भाषा ग्रोर लोकशैली में शहरी कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। ग्रपने सीधे, व्यापक ग्रोर तात्कालिक तीव्र प्रभाव के बावजूद ये नाटक कलात्मक ग्रोर साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होते ग्रोर सामयिक समस्याग्रों पर ग्राधारित होने के कारण प्रायः ग्रल्पजीवी होते हैं। वैसे भी हिन्दी में ग्रभी इस दिशा मे विशेष प्रयोग नहीं हुए हैं ग्रोर एकाध रचना के ग्राधार पर कोई निर्णय लेना शायद सही नहीं होगा। मनोरंजन तथा सामान्य जन के नाटक के नाम पर हमारे यहां जैसा फूहड़ ग्रोर घटिया रंगकार्य होता रहा है ग्रोर हो रहा है वह किसी से छिपा नहीं है ग्रोर दूसरी ग्रोर बौद्धिकता ग्रोर प्रयोग के नाम पर जो नाटक हुग्रा है वह भी सर्वविदित है। फिर भी, तथाकथित ग्रभिजात्य ग्रोर पढ़े-लिखे संस्कारी दर्शक-पाठक से ग्रलग हटकर ग्राम ग्रादमी के लिए ग्राम ग्रादमी का नाटक पेश करने की दिशा में ईमानदारी से हिन्दी में जो कुछ भी हुग्रा है उसमें मुद्राराक्षस का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके ग्रनुसार "लोगों की ऐसी राय है कि ग्राम ग्रादमी के लिए घटिया शिल्प ग्रोर घटिया सृजनात्मक कथ्य की जरूरत होती है। जन साधारण प्रशिक्षित हैं इसलिए उन्हें ग्रच्छा नाटक नहीं, ग्रच्छे

हास्य से मिलता-जुलता अतिनाटकीय भोंडा नाटक ही देना होगा। यह गलत है।.... जन साधारण न तो सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है और न नये सृजन के के प्रति अंधा। अच्छी नयी सृजनात्मक उपलब्धि को निश्चय ही व्यापक जन-समर्थन मिलता है।" परन्तु यह कैसी विडम्बना है कि आम आदमी की जिन्दगी और नियति से प्रत्यक्षतः जुड़े हुए इस प्रतिबद्ध नाटककार को 'मरजीवा', से लेकर 'मोर्स पोस्ट पेयफुन्नी', 'तिलचट्टा' और 'तेंदुआ' तक वह व्यापक जन-समर्थन प्राप्त नहीं हो सका, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। मेरे विचार से इसका मूल कारण सम्भवतः यह है कि इन नाटकों मे आम आदमी के जीवन की त्रासदी को जिन प्रतीकों और तकनीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है, वे बहुत उलझी हुई और दुरुह हैं। सैक्स को अतिशयता भी मूल कथ्य पर हावी होकर सम्प्रेष्य प्रभाव को क्षीण कर देती है। बी० एम० शाह का 'त्रिशंकु', रमेश उपाध्याय का 'पेपर वेट', मणि मधुकर का 'रस गंधर्व', शरद जोशी का 'अंधो का हाथी', परमेश्वर प्रेम का 'चारपाई' तथा प्रेमचन्द का 'गोदान' और 'कफन' जैसी रचनाएं भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 1973–74 के आसपास शैखनर के पर्यावरण-रंगमच से प्रभावित होकर बंगला के बादल सरकार ने जिस प्रकार रंगमंच को आम आदमी के बीच ले जाने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया, ठीक उसी प्रकार 'गरीब रंगमंच' के प्रवर्तक पोलैंड के महान नाटककार ग्रोतोव्स्की से दीक्षित होकर हिन्दी में विजय सोनी ने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की जबर्दस्त कोशिश की। उन्होने मुक्तिबोध की प्रसिद्ध लम्बी कविता 'अंधेरे में' को 'आशंका के द्वीप' नाम से जिस शैली मे प्रस्तुत किया, वह सचमुच हिन्दी रंगमच के लिए एकदम नयी और अभूतपूर्व थी। एकदम सादे नंगे मंच पर केवल एक प्रकाशवृत्त और सिर्फ काला जांघिया पहने छः अनाम पात्र जो अपने शरीर की अस्थियो और मासपेशियो, रूपाकारो और हाव-भाव, मुद्राओं और गतियों तथा कुछ अस्फुट स्वरो द्वारा कविता के निहित अर्थों को बिम्बात्मक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देते थे। इस प्रस्तुति ने एक बिल-कुल नये प्रकार के नाट्यानुभव से हमारा सामना कराया और आज की सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक स्थितियो के क्रूर शिकंजे मे फसे शोषित पीड़ित, त्रस्त और आत-कित उस आम आदमी की भयावह जिन्दगी और नियति के लिए जिम्मेदार हमारी आदमखोर व्यवस्था तथा स्वयं आम आदमी की अलगावादी घातक प्रकृति को बेनकाब किया। प्रस्तुतिकरण और अभिनय पद्धति की दृष्टि से भी यह नाटक विशेष उल्लेखनीय रहा।

ठीक इसी समय जून 1974 मे जब कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के ख्यातिप्राप्त निर्देशक इब्राहिम अल्काजी सरकारी साधनो-सुविधाओं से पुराने किले मे पौराणिक

परिवेश के आधुनिक नाटक 'अधा युग' का जापान की काबुकी शैली मे भव्य और विराट् प्रदर्शन कर रहे थे—दिल्ली के एक प्रतिभाशाली युवा निर्देशक-अभिनेता रवि वासवानी ने इसी नाटक को बिना किसी तामझाम और साधन-सुविधा के प्रस्तुत करके दिल्ली के रगप्रेमियो को चमत्कृत कर दिया। वासवानी ने पौराणिक पात्रो को केवल काली पैंटों और प्रवृत्तियों की प्रतीक कुछेक रंगीन पट्टियां पहना कर 'अधा युग' को आधुनिक युद्ध चेतना का मुखर एव स्पष्ट नाटक बनाने का प्रयास किया। यही घटना मोलियर के प्रसिद्ध कामदी नाटक 'द माइजर' के पूर्व प्रदर्शित हिन्दी अनुवाद 'कजूस' को 'मक्खीचूस' बनाकर उस समय फिर दोहरायी गयी जब अल्काजी मोलियर को उसी के ऐतिहासिक परिवेश और पात्रो के साथ प्रस्तुत कर रहे थे। डॉ० लाल के 'यक्ष प्रश्न' तथा 'उत्तर युद्ध' का प्रदर्शन भी इसी प्रकार का था। मैं यहा अल्काजी और वास्वानी के प्रदर्शनो के औचित्य-अनौचित्य अथवा उनकी श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता या सफलता-असफलता की तुलना नही कर रहा हूँ। फिर भी वासवानी ने इन प्रयोगो से भारत या विदेशो के सुप्रसिद्ध, महत्वपूर्ण, बड़े और महगे नाटकों को भारत जैसे गरीब देश में न्यूनतम साधनों के साथ प्रस्तुत करने का एक महत्वपूर्ण दिशा निर्देश तो मिलता ही है। विशेषत: 'मक्खीचूस' की लोकप्रियता और सफलता इस सदर्भ में काफी आश्वस्त करती है। रवि वासवानी के इस कार्य को किसी भी दृष्टि से उपेक्षित नही किया जाना चाहिए।

आम आदमी के नाटक और रगमच की तलाश के इन तमाम प्रयोगों के अन्तिम छोर पर है—एम० के० रैना का 'जुलूस'। बादल सरकार के नुक्कड नाटक 'मिछिल' के यामा अग्रवाल द्वारा किये गये इस हिन्दी अनुवाद को दिल्ली में थियेटर यूनियन की ओर से प्रस्तुत किया गया। पहली जून 1977 को दस-बारह कलाकारो के साथ चुपचाप आरम्भ होने वाला यह जुलूस दिल्ली के मैदानो, पार्कों, चौराहो, चबूतरो गली-कूचो और मुहल्लों-कालोनियों से गुजरता हुआ सारी दिल्ली पर निरन्तर छाता गया। आम आदमी का नाटक एकदम आम आदमी के बीच। कलाकारो और दर्शकों के बीच कोई दूरी नही, औपचारिकता नही, अलगाव नही। बचपन में मुन्ना अपने निजी रास्ते की तलाश मे उन्ही-उन्ही रास्तों के मोड़ो और घुमावों की भूल-भुलैया के बीच अपने घर का रास्ता भूल गया है और भटकता फिर रहा है। लगता है यह करुण स्थिति जैसे सिर्फ एक मुन्ने की ही नहीं बल्कि पूरे एक वर्ग, समाज, देश या शायद मानव जाति की ही है। बीच चौराहे पर खून हो गया है, हो रहा है और जनता खामोश बैठी देख रही है, तरह-तरह के जुलूसों, नारों, वादों और यात्राओं में मोह मग्न। व्यवस्था का प्रतीक सिपाही आँख बन्द करो 'सब ठीक है' की रट लगाये

सबको अपने में मस्त रहने का अंधा अनुशासन सिखा रहा है। हत्या, लूट-पाट, अंधकार और अव्यवस्था के बीच शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा का नारा लगा रहा है। चारों ओर जुलूस ही जुलूस है—राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक सवालों को लेकर आम आदमी के लिए संघर्ष करने वाले जुलूस। मगर सब झूठ है, फरेब है, छलावा है। हर पल सरेआम आम आदमी के वर्तमान और भविष्य की लगातार होती हुई हत्या को खूबसूरती से छिपाने का सम्मोहक षड्यन्त्र। नाटक दर्शकों से सीधे सम्बोधित होकर बेलाग सवाल करता है—आखिर कब तक आप इस तरह हत्या का यह नृशंस खेल चुपचाप देखते रहेंगे ? आखिर कब तक ? और क्यों ?

गोलाकार त्वरित गतियां, मुखर मुद्राएं, चौमुखी हुए सवाद, उछलते हुए गाने और भजन-कीर्तन, हंसती कचोटती पैरोडियां, दर्शकों की मंत्र-मुग्ध भीड़ में से उठते-बैठते कलाकार। आम आदमी के जीवन और उसके आसपास के छोटे-छोटे प्रसगों-चित्रों को अतिरजनापूर्ण ढग से प्रस्तुत करके यह नाटक उन स्थितियों के भीतर की विडम्बना को हमारे सामने नंगा कर देता है। अभिनय के लिए मानवीय देह का बहुविधि नाटकीय उपयोग करते हुए ये कलाकार हमारे सत्य से हमारा सीधा साक्षात्कार कराके हमें भीतर तक हिला देते हैं। 'जुलूस' ने अभिनेता-निर्देशक एम० के० रैना का नहीं आम आदमी के हिन्दी रगमंच का भी एक नया आयाम प्रस्तुत किया।

अब समय आ गया है कि हिन्दी का यह समातर रगमच एकजुट होकर आम आदमी के जीवन की त्रासदी को जीवन्त अभिव्यक्ति दे और उसके सपनों तथा भविष्य के लिए संघर्ष के एक तेज हथियार का काम करे।

नुक्कड़ नाटक के बारे में

●

अरुण शर्मा

आज जो स्थिति हमारे सामने है, उसे देखते हुए उचित यही होगा कि जो लोग नुक्कड़ नाटक की व्यापक और असदिग्ध रूप से असरकारी क्षमताओं से प्रेरित होकर नुक्कड़ नाटक जनता के बीच ले कर पहुंच रहे हैं, पहले वे अपने अनुभवों का, अपने सामने आने वाली अड़चनों का, जनता के साथ अपने रोजमर्रा के साक्षात्कार का वस्तुगत तथा व्यावहारिक विवेचन-विश्लेषण करें। अलबत्ता, ऐसा करते हुए जनता की अपेक्षाओं को नजर अन्दाज करने की जरा-सी भी गुंजाइश नहीं है। मुमकिन है कि इस प्रकार के विश्लेषण की प्रक्रिया से एक ऐसी स्थिति उभरे जिसमें नुक्कड़ नाटक क्या, क्यों, कैसे, किसके लिए ? जैसे सवालों का जवाब हासिल हो सके।

व्यापक और जटिल राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की मौजूदगी को मद्देनजर रखते हुए 'जनता के नाटक' और 'नुक्कड़ नाटक' की क्षमताओं और सम्भावनाओं का घालमेल नहीं किया जा सकता। जनवादी संस्कृति के हिमायतियों को 'जनता के नाटक' की अवधारणा का, इसकी व्यापक सम्भावनाओं का इल्म न हो, यह कैसे माना जा सकता है ! 'जनता का नाटक' अपेक्षा रखता है कि मौजूदा वस्तु-स्थिति को व्यापक सन्दर्भ में आंका जाय। 'जनता के नाटक' से वस्तुतः अभिप्राय यह लिया जाना चाहिए कि नाटक को उसके सम्पूर्ण भव्यतम-सुन्दरतम कलात्मक तामझाम के साथ एक ऐसे ऐतिहासिक अथवा समसामयिक कथ्य में बांधकर प्रस्तुत किया जाय जिसे जनता सहज ही अपना ले। साथ ही, जनवादी रंगकर्मी भी 'कुछ किया है' इसका सन्तोष प्राप्त कर सके। लेकिन आज जिस माहौल में जनवादी रंगकर्मी सक्रिय है और साधनों की जो जबर्दस्त कमी जनवादी रंगकर्मियों को भुगतनी पड़ती है, उसके चलते

क्या 'जनता के नाटक' का प्रस्तुतिकरण महज एक महत्वाकांक्षा बनकर नहीं रह गया है ?

सामंती-पूंजीवादी गठजोड़ पर कायम हमारे देश का मौजूदा निजाम भिनकते कोढ़ के रूप में हमारे सामने है और इस कोढ़ से जो संस्कृति रिस रही है उसका बहुआयामी जनोन्मुख विकल्प पेश करने की ऐतिहासिक जिम्मेदारी जनसंस्कृति के प्रति समर्पित कार्यकर्ताओं की ही है।

आज देश के मेहनतकश अवाम के खिलाफ खुलेआम साजिशें रची जा रही हैं। वर्ग संघर्ष की धार को कुन्द करने के लिए फूटपरस्त, मौकापरस्त ताकतों को शह दी जा रही है। महंगाई की मार ने नौकरीपेशा लोगों और खून-पसीना एक कर दो जून की रोटी का जुगाड़ करने वाली जनता की कमर तोड़कर रख दी है। ऐसी हालत में जनता से सीधे संवाद कायम करने और इस प्रकार कायम संवाद को लगातार बनाये रखने के लिए 'नुक्कड़ नाटक' कारगर माध्यम के रूप में हमारे सामने मौजूद है।

'नाटक' दर्शकों के बिना कोई माने नहीं रखता। चूंकि जनवादी रंगकर्मी जनवाद को फैलाने, उसे पुख्ता करने निकले हैं इसलिए ज्यादा से ज्यादा दर्शकों तक पहुंचना उनकी खास जरूरत है। बड़े-बड़े शहरों के बड़े-बड़े प्रेक्षागृहों से चिपके रहकर, यह जरूरत पूरी नहीं की जा सकती। जनता के बीच जाना ही है, इसलिए जाहिर है कि नाटक का कथ्य, प्रस्तुतिकरण की शैली, पात्रों की संरचना, यानी कि हर वह चीज जो नाटक से जुड़ी है—उसके स्वरूप में बदलाव तो आयेगा ही।

यूं तो आज सारे देश में ऐसे अनेक नाट्य समूह और नाटक मंडलियां हैं जो "नुक्कड़ नाटक' को एक शैली के रूप में अपना चुकी हैं लेकिन उत्तर भारत में, खास तौर पर हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में, 'नुक्कड़ नाटक' को जनप्रिय माध्यम के रूप में स्थापित करने में दिल्ली के जन नाट्य मंच की निश्चित रूप से प्रमुख भूमिका रही है।

'जन नाट्य मंच' के साथ काफी लम्बे अर्से में जुड़े होने के कारण बड़े-बड़े नाटकों से नुक्कड़ नाटक तक पहुंचने की प्रक्रिया के दौरान मुझे बहुत कुछ सीखने-समझने का मौका मिला है।

1978 तक जन नाट्य मंच ने 'भारत भाग्य विधाता' (रमेश उपाध्याय)' बकरी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना) 'फिरंगी लौट आये' (असगर वजाहत) 'अब राजा की बारी है। (उत्पल दत्त), जैसे बड़े-बड़े नाटक (फुल लेंग्थ प्ले) एक ओर जहां बड़े-बड़े

प्रेक्षागृहो मे प्रस्तुत किये, वही जब भी, जैसा भी, जहां भी मौका मिला, जिस तरह भी सम्भव हो सका इन नाटको को छोटे-छोटे शहरो, गावों, मिल गेटों, कालेजो, दफ्तरों में प्रस्तुत किया। इनमें से प्रत्येक नाटक हमारे लिहाज से 'जनता का नाटक' था। चूंकि जन नाट्य मंच में सक्रिय तमाम रंगकर्मी कमोबेश रूप से जन संस्कृति के प्रचार-प्रसार तथा प्रतिक्रियावादी और पतनशील संस्कृति से उसकी सुरक्षा के प्रति प्रतिबद्ध हैं, इसलिए हमारे साधन सीमित हैं और कार्यक्षेत्र असीमित—यह बात धीरे-धीरे हम सभी को परेशान करने लगी। हम जनता के सामने 'सुन्दरतम' लेकर जाना चाहते थे, (चाहते हैं और चाहेंगे भी)। उसका जुगाड करने मे पहले की बनिस्बत ज्यादा मुश्किलात हमारे सामने आने लगी। मसलन, 20-20, 25-25 की कास्ट, भारी-भरकम सेटों को उठाये-उठाये फिरना, बस-रेल के सफर के लिए पैसों की कमी के कारण मौका होते हुए भी नाटक न दिखा पाना, कई बार किसी अच्छे नाटक का न मिल पाना और अगर कोई अच्छा नाटक मिल भी जाय तो उसके लिए लम्बी-लम्बी कास्ट जुटाना, पुरुष पात्र मिल जाय तो स्त्री-पात्रों की बाट जोहना। स्त्री-पात्रों को कम करने के लिए नाटक में रद्दोबदल करना, किसी नामी-गिरामी डायरेक्टर की तलाश करना, उसके अहं को तुष्ट करना, और अन्य अनेक काम हमारे लिए सिर्फ ऐसे बखेड़े बनकर रह गये जिनके कारण हम अपनी सारी क्षमताओं के बावजूद अपनी जनवादी जिम्मेदारी पूरी करने मे अपेक्षित सक्रियता नही दिखा पा रहे थे।

नतीजतन ज्यादा से ज्यादा दर्शकों तक पहुंचने के लिए हमने 'नुक्कड नाटक' को एक नयी-सी, ताजी-सी शैली के रूप मे अपनाया और स्थिति यह है कि हमारे ये नाटक लाखो दर्शकों द्वारा देखे जा चुके हैं।

हमारा पहला नुक्कड़ नाटक था 'मशीन'।

यह नाटक हम जहा भी लेकर गये, दर्शको ने हमें हाथो हाथ लिया। लोगों ने इस बात को महसूस किया कि हमारा काम अच्छा है। हमने अपनी झोली फैलाकर आर्थिक मदद की माग की। अपनी-अपनी जेब की हैसियत के मुताबिक लोगो ने रुपये-पैसे देकर हमारे काम मे शिरकत की। हमारी हिम्मत और बढ़ी, हम और आगे बढ़े और फिर रुके नही।

'मशीन' के बाद हम 'गाव से शहर तक' 'औरत', 'तीन करोड', 'हत्यारे', डी. टी. सी. की धांधली', 'राजा का बाजा,' 'आया चुनाव', 'पुलिस चरित्रम', 'समरथ को नही दोष गुसाईं', 'काला कानून', 'जंग के खतरे' शीर्षक नुक्कड नाटक प्रस्तुत कर चुके हैं।

नुक्कड़ नाटक करते हुए हमने महसूस किया कि यह रास्ता हमने नही जनता ने ही चुना है। इसलिए, जनता की असीम ताकत में हमारी आस्था को और अधिक बल मिला।

'मशीन' के रूप में नुक्कड़ नाटक की शुरुआत से ही हमारा काम करने का तरीका बदल गया। किसी अच्छे नाटक की तलाश का मसला जिस तरह बड़े-बड़े नाटकों से जुड़ा है, वह नुक्कड़ नाटक की शुरूआत मे ही हमारे सामने आया और बिना किसी सकोच के 'मशीन' नाटक को जनमं के लोगो ने ही मिलकर लिखा और यह सिलसिला आज भी जारी है। अब हम पहले के मुकाबले ज्यादा 'फ्लेक्सिबल' (लचीले) हैं, ज्यादा गतिशील हैं, ज्यादा जनप्रिय हैं।

देश के मौजूदा राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की जटिलताओं को नुक्कड नाटक के जरिये पेश करें—मैं कहूंगा कि 'हम' अभी इस स्थिति मे नही हैं। इसलिए, फिलहाल जनता की रोजमर्रा की तकलीफों तथा अन्याय, उत्पीडन, शोषण के खिलाफ जनता की लडाइयो को ही हम नुक्कड़ नाटक में, दिल-दिमाग में जगह बना लेने वाले गीतों, तीखे संवादो और ऐसे चरित्रों की मदद से पेश करते हैं जो हमे जनता में ज्यादा ढूंढने नही पड़ते। हम ऐसे नुक्कड नाटक प्रस्तुत करते हैं जिनमे जनमानस को कुरेद सकने की ताकत होती है।

'नुक्कड़ नाटक' का आधार साफगोई है, इसलिए इसका असर देखने वालो पर जल्दी होता है और देर तक बना रहता है। इसलिए, अनेक तरह के राजनीतिक-सामाजिक भटकावों के शिकार लोगो ने इस शैली को अपनाने में कुछ जरूरत से ज्यादा ही दिलचस्पी दिखायी है। ऐसे लोग नुक्कड़ नाटक के माध्यम से दर्शकों की भीड़ को अनर्गल और जनविरोधी नतीजों वाली हिंसा का सहारा लेने के लिए उकसाते हैं। केरल मे कुछ लोगो ने ऐसा ही किया और वह भी तब जबकि वहां ऐसी सरकार नयी-नयी कायम हुई थी जो वामपंथी-जनवादी शक्तियो के नेतृत्व में जनहितकारी नीतियो को, जहाँ तक सम्भव हो सके, अमली जामा पहनाने की मंशा से कायम हुई थी। कुछ ऐसे लोगो ने भी इस विधा को अपनाया है जो कि नुक्कड नाटक के जरिये 'स्वस्थ, खुश और साफ-सुथरा रहने' की शिक्षा देने की आड़ मे मिशनरीज मनसूबो को—जो कि अन्तत. प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से देश में अमरीकी साम्राज्यवादियो की जड़ें मजबूत करना चाहते हैं—कामयाब बनाने मे लगे हैं। ऐसे लोगो ने निश्छल रंगकर्मियों को, बेपनाह पैसे के बल पर पथभ्रष्ट करने का बीड़ा उठा लिया है। उधर 'कला कला के लिए' के अलमबरदारों ने प्रयोगशीलता के नाम पर नये-नये रंगकर्मियो को, दिग्भ्रमित करना शुरू कर दिया है और नुक्कड़ नाटक मे

कथ्य की प्रधानता की जगह जिस्मानी कसरतों में नये ग्रायामों की तलाश शुरू कर दी है। कुछ लोग तो ऐसे भी हैं जो समाजवादी रूस को 'सामाजिक साम्राज्यवादी साबित करने' के लिए ही नुक्कड़ नाटक कर रहे हैं। हमें इन प्रवृत्तियों पर भी विचार करने की जरूरत है।

जहां तक जन नाट्य मंच का सवाल है हम जनता को सिर्फ 'सिखाने' का साइनबोर्ड लेकर नहीं घूमते, बल्कि, हम उससे सीखने भी जाते हैं ग्रौर ऐसा करते हुए देश, समाज, सस्कृति, कला, राजनीति के मुताल्लिक ग्रपनी समझ को ज्यादा से ज्यादा साफ, ज्यादा वैज्ञानिक ग्रौर ज्यादा पुख्ता बनाते हैं। रोजी-रोटी के जटिल जंजाल में फंसी जनता के पास देश में सामंती-पूंजीवादी गठजोड़ की नुमाइंदगी करने वाले निजाम की छत्र-छाया मे पनप रही पतनशील, गर्हित, घिनौने ग्राचार-विचार से सनी ग्रौर निहित स्वार्थों की सेवा में लगी संस्कृति की बुराइयो की छानबीन कर सकने का ग्रवकाश भले ही न हो, लेकिन जो कुछ उसे ग्रच्छा नजर ग्राता है, उसे सराहने की उसकी कूव्वत ग्रभी कम नही हुई है। हमारे नुक्कड़ नाटकों की सफलता ग्रौर चौतरफा लोकप्रियता इसका एक सबूत है।

जनवादी रंगकर्मियों से यह उम्मीद रखना गैरमुनासिब नही होगा कि ग्रधकचरे 'शार्ट कट' की जगह वे ऐसी पगडंडियां बनायें जिन पर चलते हुए ग्राने वाली पीढ़ियां नुक्कड़ नाटक के एक से एक नये क्षितिज तलाशने में कामयाब होती रहें। इसलिए, 'कमाल करने,' 'चमत्कार पैदा करने,' 'सनसनी फैलाने' या समूह के मुकाबले व्यक्तिवादी ग्रराजकता (कलाकार का ग्रहं) के बल पर ग्रपनी गतिविधियों को स्थायित्व प्रदान कर सकने की खामखयाली को झटक देना ही बेहतर है। नही झटकेंगे, तो जनता झटक देगी।

नुक्कड़ नाटक में त्वरित मे नाटकीयता होती है ग्रौर ग्रपनी ग्रन्तिम परिणति में यह ग्रान्दोलनात्मक होता है, इसलिए इसमें निहित क्रांतिकारी तत्व के बारे में ग्रथवा जनता को जनवादी चेतना से, शक्ति से लैस करने में इसकी कारगर भूमिका के बारे में किसी प्रकार की गुंजाइश नहीं है।

ग्रनेक विरोधी वक्तव्यों के बावजूद नुक्कड़ नाटक बाकायदा एक विशिष्ट फार्म है जिसमें हमारे शास्त्रीय, पारंपरिक ग्रौर लोक रंगमंच की सारी सुविधा मौजूद हैं। हां, ग्रगर बात को यों समझा जाय कि इस फॉर्म की कोई विशिष्ट लम्बी परम्परा नहीं है तो समझ भी साफ होगी ग्रौर इस विशिष्ट फॉर्म के विकास की राह खोजना भी सुगम हो जायगा।

यह बात यहां अलबत्ता मानी जा सकती है कि बदलती दुनिया में पिछली सदी के कलाकार और साहित्यकार (आम तौर पर) संस्कृति के विकास, इसके रूप ग्रहण, परिवर्तन, नये मूल्य और जनता के संघर्षों को व्यक्त करने में (किसी हद तक) मात खा गये, लेकिन यह बात नहीं मानी जा सकती कि जनता खुद अपनी कला विकसित करने में और उसे अपनी आजादी के संघर्ष में एक जीवंत अभिव्यक्ति बना सकने मे विफल रही थी। इतिहास गवाह है, हर दौर में, जनता ने उस दौर की जरूरतों के मुताबिक जहां अपने जीवन के ढर्रे को ढाला है, वहा उसने अपने अभिव्यक्ति के माध्यमो को भी ढाला है, तलाशा है। ध्यान रखने की बात यहा यह है कि—नुक्कड़ नाटक में देश की विरूपताओं, मजदूर-किसान तथा जनता के दूसरे हिस्सो के जीवन और संघर्षों का करुणामय चित्रण किया जाय या तथ्यपरक, उनकी कहानी कही जाय या उसे व्यंग्य का विषय बनाया जाय, नुक्कड नाटक में सामाजिक यथार्थ को तथ्यात्मक रूप में पेश किया जाय या फैंटेसी के रूप मे, अभिनेता सच्चाई को व्यक्त करने के लिए चित्र-विचित्र कपड़ों और अन्य साजोसामान की मदद लें अथवा नही, किसी विशेषता के बिना भी काम चल सकता है या नही, 'मास्क' और 'पोस्टर' आदि का इस्तेमाल किया जाय या नही, नुक्कड़ नाटक के प्रस्तुतिकरण के लिए 24 घण्टे में से कौन-सा समय ज्यादा मुफीद रहेगा, नुक्कड़ नाटक को कम से कम और ज्यादा से ज्यादा कितने समय का होना चाहिए—जैसे अन्य अनेक सवालो का कोई फार्मूलाबद्ध जवाब कृत्रिम और अवैज्ञानिक होगा। कलाकार की रचनात्मकता, कल्पनाशीलता, प्रेरणास्रोत, अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति उसकी सचेतनता, वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक तथा आर्थिक परिदृश्य के बारे में उसका विश्लेषणात्मक और प्रगतिशील दृष्टिकोण इत्यादि ही ऐसे तत्त्व हैं जो कि कलाकार की कलाकृति के स्वरूप को निर्धारित करते हैं; नुक्कड़ नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

अपनी बात यह कहते हुए समाप्त करना चाहूंगा कि मौजूदा स्थितियां मे परिवर्तन को लेकर जनता की तूफानी भावनाओं को अपने नुक्कड नाटको में संजोना हमारा मकसद है। इसी मकसद की कामयाबी मे एक ऐसे जीवन की सम्भावना निहित है जिसकी प्राप्ति के लिए आज जनवादी रंगकर्मी ज्यादा से ज्यादा तादाद मे आगे आ रहे हैं। हमारे लिए "जीवन का एकमात्र अर्थ जीवन से अतिशय अपेक्षाएं करना है; सब कुछ अथवा कुछ भी नही; अप्रत्याशित की अपेक्षा करना; इस धरती पर जो है, उसमे नहीं वरन् इसमें विश्वास करना कि क्या होना चाहिए। भले ही वह इस समय मौजूद न हो। परन्तु, जीवन हमें वह देता है क्योंकि जीवन सुन्दर है।" (—अलेक्सान्द्र ब्लोक)।

चित्रकला

भारतीय कला—आज

●

प्रयाग शुक्ल

हमारे यहां यह बात ही अधिक प्रचलित हुई है कि आधुनिक कला को समझ पाना कठिन है। असलियत यह है कि वह अधिसंख्य लोगों की पहुंच के बाहर रही है, और है। पिछले दो-तीन दशकों में छोटे-बड़े शहरों में कला गतिविधियां तेजी के साथ बढ़ी जरूर हैं, लेकिन इनका बढ़ना सीमित दायरे में, ऊपर की ओर हुआ है, वे चारों ओर फैली नहीं हैं। नतीजतन जिसे मोटे तौर पर आधुनिक कला कहेंगे, उसको लेकर समाज में भ्रांतियों की कमी नहीं हुई। और दुर्भाग्य से, उसकी खरीद-बिक्री और घरों में उसके प्रवेश का मामला आज भी एक खास तरह से 'नियंत्रित' है।

यह बात क्यों प्रचारित हुई कि आधुनिक कला को समझ पाना कठिन है? कि वह अमूर्त और ऊटपटांग है? बहुत कुछ इन्हीं कारणों से कि लोगों तक उसे पहुंचाने के लिए जिम्मेदार लोग स्वयं कोई जहमत उठाना नहीं चाहते थे। इसी में सहूलियत समझी गई कि वह कुछ ही लोगों तक पहुंचे, कुछ ही लोग उसे सराहें, खरीदें, उसके बारे में बात करें। कहीं यह दिमाग काम करता रहा कि वह सचमुच कुछ ही लोगों के लिए हो सकती है। कला के व्यापारी, कला दीर्घाएं व अन्य एजेंसियां ही नहीं, स्वयं बहुत से कलाकार इस झूठ को बढ़ाने-फैलाने में शामिल हुए कि आधुनिक कला को समझ पाना कठिन है या फिर उन्होंने कभी इस बात में दिलचस्पी ही नहीं ली कि आज की कला अधिकतर लोगों तक पहुंचाई कैसे जाए? इसमें एक बड़ी सुविधा यह भी थी कि कला गतिविधियों के सीमित दायरे की आड़ में वे कैसा भी काम करके बच निकल सकते थे—यहां किसी के प्रति जवाबदेही का सवाल ही पैदा

नहीं होता था। यह भी कि ऐसा करके आज की कला में वास्तविक अर्थों में हो रहे अच्छे काम, और एक छद्म के बीच पनपने वाले काम, के बीच की विभाजन रेखा को धुंधला किया जा सकता था—जिस से यह संतोष भी बना रहे कि सब एक ही जैसे हैं और किसी को दूसरे की आलोचना करने का 'नैतिक अधिकार' नहीं है।

आज की कला स्थिति को जांचने पर लगता है कि कला-व्यवसायी, और ऐसे कलाकार अपने प्रयोजन में बहुत दूर तक सफल हो गए हैं। और अगर समय रहते कुछ बातें अच्छी तरह न समझ ली गईं तो समाज से आज की कला के किसी भी तरह के सार्थक रिश्ते की उम्मीद जल्दी ही टूट जाने वाली है।

हमारे समाज में, जो रोजमर्रा की जरूरतों के लिए निरन्तर संघर्ष करता है, एक अरसे से वह कलाकृति या कला 'संदेहास्पद' मानी जाती रही है जो अपने ही हाथों, कम से कम साधनों में स्वयं या घर पर न रची गई हो। एक जमाने में 'बंगाल स्कूल' कला की सामाजिक व्याप्ति का बड़ा कारण यह था कि उसके अनुकरण पर सीमित साधनों में, घरों में रेखांकन और तसवीरें बनाना सम्भव हुआ। (मैं यहां किसी प्रकार की कला चेतना बनाने या कला जागरूकता बढ़ाने में बंगाल स्कूल के किसी योगदान की बात नहीं कर रहा—उसमें ऐसी कोई बड़ी शक्ति थी भी नहीं) आधुनिक कला को 'नियन्त्रित' करने वालों ने इस सामाजिक स्थिति को कभी ध्यान में रखा ही नहीं। चित्रों का कीमतें बेहिसाब न बढ़ें, आधुनिक कला की प्रदर्शनियों तक लोगों के पहुंचने के मार्ग सुगम हों, चित्रों की प्रतिकृतियां बहुत कम मूल्य पर उपलब्ध हों, जैसी जरूरतों की ओर से प्रायः आंखें मूंद ली गईं। समाज से आधुनिक या आज की कला की दूरी इसलिए भी बढ़ी कि हमारे यहां आधुनिक कला का आन्दोलन, कुछ स्वभावतः और अधिकतर एक आरोपण में, अन्तर्राष्ट्रीय कला बाजार के ढांचे पर विकसित हुआ। कला दीर्घाओं, कला अकादेमियों का गठन भी इस अन्तर्राष्ट्रीय कला समाज को ध्यान में रखकर हुआ और इस तरह का माहौल बना जिसमें कलाकारों के लिए इस अन्तर्राष्ट्रीय कला-तन्त्र की कुछ जरूरी और कुछ अत्यन्त गैर जरूरी शर्तों को मानना लाजिमी समझा जाने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय कला-तन्त्र को हमने कई बार ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया।

पूरी सामाजिक स्थिति में कला-दुनिया का यह शारीरिक अलगाव आज की कला के बारे में अक्सर उग्र प्रतिक्रियाओं को जन्म देता है। और कला की दुनिया में एक हद तक परिचित लोग भी प्रायः यह कहते हुए मिलते हैं कि जब सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल की अमुक-अमुक घटनाएं घट रही हैं, कई बड़े राजनीतिक,

सामाजिक सवाल सामने हैं तब कला की दुनिया से कोई भी, कैसा भी सरोकार बेमानी है। मसलन गुजरात में छात्र ग्रान्दोलन के समय, दिल्ली में गुजरात के कई कलाकारो की समूह प्रदर्शनी 'ग्रुप प्रदर्शनी 74' के ग्रायोजन पर ऐसी प्रतिक्रियाए सुनने को मिली थी। लेकिन समस्या का हल कला की दुनिया से सरोकार रखना बन्द कर देना नही है, बल्कि उसे इस तरह से बदलना है कि समाज से उसका शारीरिक ग्रौर मानसिक-बौद्धिक ग्रलगाव खत्म हो।

यह सवाल भी उठता है कि ग्राधुनिक कला या ग्राज की कला ग्रधिकतर लोगो की पहुच के भीतर हो ही, यह जरूरी क्यो माना जाए ? क्या यह पहले से ही मान लिया गया है कि जो उसके निकट नही पहुंच रहे, वे किसी कदर वचित है ? हम कला को थोपने की बात सोच रहे हो, तब ये सवाल ग्रपनी जगह सही हो जाते हैं। लेकिन चुनने की स्वतन्त्रता की बात हो, तो ग्रप्रासगिक है। ग्रहम सवाल यह है कि यह निर्णय लोग स्वय ही क्यों न करें कि कोई चीज उसके समझ मे ग्राती है या नही, किसी चीज से उनका रिश्ता बनता है या नही ? ग्रौर यही पहली जरूरत यह हो जाती है कि ग्राज की कला लोगों को देखने को मिले—कला की दुनिया मे सरोकार रखने वाले सभी तरह के व्यक्तियो को यह बात ग्रच्छी तरह समझनी होगी। कला की दुनिया में काफी हद तक सक्रिय कुछ लोग ग्रब यह ग्राग्रह लेकर चल रहे हैं कि कला की दुनिया को नही, कलाकृतियो को बदला जाय—वे प्रत्यक्षतः ग्राज की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियो को प्रतिबिम्बित करने वाली कलाकृतियां हो। मानो केवल इसी ग्राग्रह से उनकी व्याप्ति सामाजिक हो जाएगी ! यह भुला दिया जाता है कि इस तरह का बदलाव भी एक 'बौद्धिक विलास' बनकर रह सकता है, ग्रगर इसके साथ कला दुनिया के छद्म ग्रौर ग्रातंक को बदलने की कोशिश न की गई। कला की दुनिया में कृतियों की कीमतें निरन्तर बढ़ रही हैं—ग्राज से कुछ साल पहले प्रतिष्ठित कलाकारो की कृतियां भी ग्रधिक से ग्रधिक दो-तीन-चार हजार की हुग्रा करती थी। ग्रब कुछ प्रतिष्ठित कलाकारो की एक कृति की पन्द्रह-बीस हजार कीमत भी मामूली बात है। ग्रन्तर्राष्ट्रीय कला-तन्त्र पर ग्राधारित हमारे यहाँ कला का बाजार (जितना भी वह है) भूलने ही वाला है कि इसमे कही कुछ 'गलत' भी है—कि ऐसी चीजो को बढ़ावा देकर वह कला को लेकर चलने वाली बहस ग्रौर विचार को भी काफी हद तक मद कर देगा।

लोग कला की दुनिया को एक दुश्चक्र समझ कर या तो उसमे उदासीन हो जाएगे या उग्र होकर कला की इस दुनिया का ही बहिष्कार कर देना चाहेंगे। जबकि न तो रचना स्थगित होनी है ग्रौर न ही की जा सकती है। यहाँ यह ध्यान कर ले

कि आधुनिक कला के नाम पर जो कला हमारे यहाँ विकसित हुई उसमें बहुत कुछ ऐसा है कि जो मूल्यवान और सार्थक है, और आधुनिक कला के नाम पर विकसित छल-छद्म से वह बहुत भिन्न है। हुसैन, रामकुमार, स्वामीनाथन, अंबादास, हिम्मत शाह गुलाम शेख, भूपेन खख्खर, विकास भट्टाचार्य—ये कुछ ही नाम हैं यहाँ उदाहरण के के लिए, जिनसे आधुनिक कला की कई 'उपलब्धियाँ' जुड़ी हुई हैं। इनके काम की जड़ें हमारे समाज में हैं और इनकी कृतियों में समाज के साथ एक ऐसा अन्तर सम्बन्ध भी है, जिसकी चाक्षुष और मानसिक बौद्धिक प्राप्तियां सबके लिए अपने-अपने ढंग से उत्तेजक हो सकती हैं। इनकी कृतियों में वह आत्मसंघर्ष है जो अभिव्यक्ति के लिए हमारे जैसे समाज में, लेखक और कलाकार को अनिवार्यतः करना पड़ता है—जहां प्रचलित मूल्य, धारणाएं, दृष्टिकोण या तो बद्धमूल होकर लगभग एक अमानवीय ताक़त अख़्तियार कर लेते हैं या कहीं इतने अस्पष्ट और गडबड हैं कि उन्हें पुन: परिभाषित करने या जीवंत रूप देने के लिए हर मौके पर अपने को 'कोंचते' रहना पड़ता है। हुसैन ने अपने चित्रों में आम भारतीय जिंदगी के फैले-बिखरे रूपों, जीवन यापन करने के उसके उपकरणों, उसके दैन्य, उसकी 'गरिमा' और उसकी शक्ति को लेकर एक देह निर्मित की—एक धड़कती हुई देह। उसकी आस्थाओं, उसकी लाचारियों और संघर्ष कर सकने की उसकी क्षमता को उन्होंने कई स्तरों पर पहचाना और रेखांकित किया। रामकुमार, तैयब मेहता, विकास भट्टाचार्य ने शहरी जिन्दगी की पृष्ठभूमि में कई और भिन्न स्तरों पर, क्षय होती आदमी की देह और मनुष्यता को अपनी-अपनी चिन्ता और चित्रों का विषय बनाया। रामकुमार ने क्रमशः 'अमूर्तन' की ओर बढ़ते हुए, अपनी इन चिन्ताओं को और 'गहरा' और अधिक मार्मिक करना चाहा। स्वामीनाथन और अंबादास ने भारतीय लोक कला, लोक जीवन की प्रकट और अप्रकट शक्ति को जिस प्रक्रिया में व्यक्त किया, उससे नए चित्र रूपों की प्राप्ति तो हुई ही, इस तथ्य से भी परिचय हुआ—आधुनिक कला के संदर्भ में—कि ठेठ भारतीय रंग, निरे रंगों से कुछ अधिक हैं— उनमें बहुत अच्छे अर्थों में, धर्म, तात्त्विक चिन्तन और साथ ही अस्तित्व की सरलताएं (सरल सुख-दुःख) और जटिलताएं समाहित हैं और उन्हें प्रतीक रूपों में देखने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी कि उन्हें अनुभव करने की—चाक्षुष और मानसिक दोनों ही स्तरों पर अनुभव करने की। भूपेन खख्खर ने शहरी जिन्दगी के पढ़े-लिखे बाबू वर्ग, तथाकथित अंगरेजी दाँ वर्ग और निम्नमध्य वर्ग के जीवन के जो रूप उभारे वे जैसे देखे और जाने हुए को नए सिरे से और नई तरह से पहचानने में हमारी मदद करते हैं। शहरी जिन्दगी के उच्च वर्ग की आत्मतुष्टता, बंजरता और मध्य, निम्नमध्य वर्ग की दैनिक एकरसता को वह उन

भारतीय 'रंगों' में उभारते हैं जो अंगरेजों के शासन काल की 'देन' हैं—हर वर्ग की अलग-अलग वेशभूषा और जीवन पद्धति के अलग-अलग 'रंग'। उनके रूपाकार आज की स्थिति से इतने स्तरों पर जुड़ते हैं कि उनके बारे में सोचना हमारे लिए कुछ दहशत भरी सच्चाइयाँ प्रकट कर सकता है। पर उनके चित्रों का उद्देश्य केवल दहशत पैदा करना नहीं है, उनमें एक प्रकट-अप्रकट मानवीय आश्वासन भी है। गुलाम शेख उन स्मृतियों और संवेदनाओं की ओर वापस जाते हुए लगते हैं, जिन्हें आज की आपाधापी में, चीजों के बारे में एक अनिर्णय और उदासीनता में, हम खो चुके हैं या खोते जा रहे हैं—बचपन, प्रकृति और मानवीय सम्बन्धों के केंद्र में लौटते उनके चित्र भी एक नया अनुभव हैं।

इस संक्षिप्त चर्चा के बाद यह जोड़ना जरूरी है कि आज की भारतीय कला के स्वरूप, उसकी उपलब्धियों और कमजोरियों की चर्चा करना इस लेख का उद्देश्य नहीं। ऊपर की चर्चा इसी प्रसंगवश है कि आज की कला में रंगरूपों के मामले में, समाज के साथ एक नई निकटता उभर रही है। रचना और विचार के स्तर पर इसे बनाने और बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि आज की कला के बारे में भ्रांतियों, आग्रहों-दुराग्रहों में कमी हो। और तेजी से बढ़ते एक व्यावसायिक दुश्चक्र से उसे किसी कदर बाहर लाया जाय। ऐसा उसके बारे में बात करके, उसे अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाकर—मौलिक कृतियों, प्रतिकृतियों, छापों, फोटोरूपों, सभी तरीकों से—ही किया जा सकता है। बड़े व्यावसायिक संस्थानों—सरकारी और गैर-सरकारी दोनों के कैलेंडरों में भारतीय कला प्रकट होने लगी है, लेकिन कितने अधूरे रूप में। भाषा और शब्द की दुनिया—किताबों और पत्रिकाओं—से अभी यह काफी हद तक दूर रही है। उसकी सामाजिक व्याप्ति रोजमर्रा के जीवन में केवल अखबारी खबर की तरह हो, यह तो कोई नहीं चाहेगा, लेकिन अखबार के माध्यम से भी हो, यह इच्छा और मांग अपनी जगह सही लगती है।

आधुनिक भारतीय कला का वातावरण

●

विनोद भारद्वाज

आधुनिक भारतीय कला के बारे में सोचते हुए एक बात ने अक्सर मुझे परेशान किया है कि उसे अभी तक आधुनिक आलोचक क्यों नहीं मिल सके। अगर उसे कुछ (संख्या में 6-7 भी बहुत होते हैं) अच्छे आलोचक मिल जाते, तो शायद वह बेहतर स्थिति में होती। कहा जा सकता है कि अच्छी या महान या प्रासंगिक कला को आलोचकों की आवश्यकता नहीं होती : वह अपनी भीतरी शर्तों पर आगे बढ़ती है। आलोचक की उपस्थिति बुनियादी नहीं है। पर ऐसा है नहीं। कम-से-कम जिसे आधुनिक कला के नाम से पहचाना जाता है उसके बारे में यह बहुत सही नहीं है। अन्य कलाओं की ही तरह उसे भी आलोचना की जरूरत इसलिए है कि आधुनिक कहे जाने वाले समाज में वह अपनी स्थिति जांच सके। अपने वातावरण के साथ एक तात्कालिक सम्बन्ध भी बना सके। और अगर यह मांग बहुत ज्यादा नहीं है, तो हमें यह बता सके कि जिंदगी कितनी खराब हुई है और कैसी सुन्दरता उसमें बाकी है।

यह एक तथ्य है कि आधुनिक भारतीय चित्रकला के बारे में हिन्दी में बहुत कम काम हुआ है पर यह भी एक तथ्य है कि हमारे यहां अंगरेजी में जो आलोचक लिख रहे हैं वे कला को लेकर सचमुच कोई 'उग्र' प्रकार का चिंतन करने में असमर्थ दिखते हैं। अपवाद हो सकते हैं पर मुख्य प्रश्न यह है कि ये आलोचक कुछ अजीब और दिलचस्प ढंग से आधुनिक कला के प्रति संवेदनशील हैं—उनके सामने विकसित शब्दावली का भण्डार मौजूद है जिसका सार्थक इस्तेमाल न करके उसे वे निरर्थक बनाते चले गये हैं।

यह महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय कला के अतीत के साथ एक संवाद की स्थिति अगर कहीं कहीं दिख जाती है तो उसका श्रेय उन चित्रकारों को ही अधिक है जो भाषा पर भी अधिकार रखते हैं।

इस स्थिति के दो प्रकार के परिणाम हैं। एक ओर कलाकार अपने भीतरी ससार पर कोई गहरा बाहरी दबाव नहीं महसूस करते हैं। दूसरी ओर आधुनिक कला की ग्रहणशीलता तथा उसके अर्थतंत्र के चमत्कार के बीच एक सामान्य दर्शक अपने यहां के अनेक कलाकारों के काम से सतही सम्बन्ध ही बना पाता है। कला स्वयं कुछ बोलती भी हो तो भी आधुनिक कला जिस प्रकार की उत्तेजना चाहती है उसमें उसका स्वयं बोलना ही पर्याप्त नहीं है। यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि आधुनिक चित्रकला को साहित्य और सगीत से भी अधिक समाजशास्त्र, मानवशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र आदि विषयों से सीधे-सीधे जोड़ा जाये।

पिकासो ने कहीं कहा था कि मेरी नकल करने वाले कलाकारों की तुलना में कोई भी कलाकार बेहतर है। कवि-कथाकार बोरखेस ने भी एक बार कहा था कि अपना अनुकरण करने वालों का अनुकरण भला मैं क्यों करूं। भारतीय कला सामान्य रूप से किसी या कुछ भारतीय चित्रकारों का भी अनुकरण नहीं दिखती : वह एक ऐसे वातावरण का अनुकरण है जिसे सार्विकता की बुनियादी शर्तों पर भी हम पर नहीं लादा जा सकता।

आधुनिक भारतीय कलाकार की कल्पनाशक्ति के केन्द्र में सुन्दरता हो या भयावहता, दोनों ही के तर्क अक्सर हमें मुहावरों में ले जाते हैं। उदाहरण के लिए पिछले दशक में भयावह चित्रों की रचना की जब बाढ़ आती दिखी थी तो दिल्ली जैसी जगह पर काम करने वाले चित्रकारों में वास्तविक स्थिति का कोई अनुमान नहीं होता (कम-से-कम उनकी अभिव्यक्ति सधी हुई तो होती है) : इनके लिए हमें लखनऊ, जयपुर या वाराणसी जैसे किसी छोटे कलाकेन्द्र में जाना होगा जहां भयावह कल्पनाशक्ति आधुनिक कला के नाम पर न जाने क्या-क्या कर चुकी है।

छोटे शहरों के कला संस्थानों में जितना श्रम हो रहा है और उससे समाज में कला चेतना का जो आधार बन रहा है वह बहुत ही निराशाजनक है। 'मिडियाकर' किस्म की कला पर इतनी ज्यादा मेहनत होती है कि अनेक युवा चित्रकार मुहावरों में थोड़ी बहुत कुशलता प्राप्त करने के बाद अपनी खोज पूरी समझ लेते हैं। सिर्फ बात इतनी ही नहीं है। इन संस्थाओं में बहस के अवसर बहुत कम रहते हैं। बहुत थोड़े ही चित्रकार इस समस्या तक आ पाते हैं कि उन्हें समाज के अन्यशीकरण में

परिवर्तन लाना है : दाढ़ी बढ़ाकर या किसी विचित्र चोगे को पहनकर ही अवांगार्द की जमात मे शामिल नही हो जाना है। समस्या इन चित्रकारों का बांकपन नही है पर दादावाद तथा अतियथार्थ के बहुप्रचारित बांकपन के बावजूद उनकी कला अपने वक्त को जीवित करने की अद्भुत क्षमता रखती है।

दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई के कला केन्द्रों की यहा बात नही की जा रही है पर छोटे शहरो मे जो क्षति हो रही है वह काफी गम्भीर है। वहां आधुनिक कला के प्रति एक उदासीन या नाराज वातावरण बना रहने दिया जा रहा है। यह ठीक है कि दिल्ली मे कोई विनम्र या उत्सुक या संवादप्रधान वातावरण नही है—कला-वीथियो मे कलाकारो के अलावा जो थोड़े बहुत दर्शक नजर आते हैं वे कला चेतना के किसी बदलाव की सूचना हमें नही देते। बड़े कलाकेन्द्रों में कलाकार और गैलरियों के प्रबंधक एक दुरभिसन्धि-सी किये रहते हैं। छोटे शहरों की बात दूसरी है। वहां प्रेक्षक वर्ग को आधुनिक कला के बारे में भ्रामक जानकारियां दी जाती हैं। क्या यह एक बहुत अजीब बात नही है कि लखनऊ, जयपुर, इलाहाबाद जैसे शहरो में भी दर्शकों को देश के दस बड़े चित्रकारों की मूल कलाकृतियां देखने के कोई अवसर नही मिलते। रंगीन पत्र-पत्रिकाओं ने थोड़ा-बहुत आधुनिक कला का प्रचार किया तो है पर एक तो कुछ खास तरह के चित्रकार ही इन पत्रिकाओं मे छपते हैं और उनमें से अधिकांश ऐसे चित्रकार होते हैं जो कलाकार के रूप मे बहुत कम जाने जाते हैं। पर उनके काम की रंगीन अनुकृतियां अक्सर पाठकों तक पहुंचती रहती हैं।

इसके अलावा मूल को देखने और जानने का सुख और अर्थ ही दूसरा है। इस लिए कोई आश्चर्य नही कि रामकुमार जैसे प्रतिष्ठित चित्रकार भी भोपाल की किसी एक प्रदर्शनी से ही काफी उत्साहित हो जाते हैं।

कला के केन्द्र बनेंगे ही पर कला इन केन्द्रों की कैदी हो जाये ? इस स्थिति का एक बड़ा नुकसान यह है कि कला के एक विशेष मुहावरे से गैलरियों के मालिक या दिल्ली में वक्त काट रहे कुछ विदेशी तो संतुष्ट हो सकते हैं पर उस कला का कोई वातावरण नही बन पाता। ऐसा नही कि बहुत लोगो के पास कला पहुंचने लगेगी तो इससे लाभ होंगे ही। यह जियाकोमेत्ती ने कहा था कि मेरी कला में उभरे उस चेहरे का कोई मतलब नही है अगर उसका कोई भौतिक वातावरण नही है।

इस वातावरण का अर्थ मात्र कलाकार की प्रतिबद्धता न समझ लिया जाये। वातावरण का एक अर्थ यह भी है कि एक खास तरह की तकनीकी दक्षता अपनी समस्त सुन्दरता और सार्थिकता के बावजूद हमारे यहां किसी वातावरण को बनाने में

असमर्थ होती है। उदाहरण के लिए आफिस में काम करने वाले अनेक प्रतिभाशाली चित्रकार जब पेरिस या लंदन मे जाकर काम करते है तो उनका रूप बहुत अलग होना स्वाभाविक है। तकनीकी उनकी कल्पनाशक्ति को भी बदलती है, पर अन्त मे हमारे यहां के कला वातावरण मे उनका कोई बडा योगदान तभी होगा जब वे सतही तकनीकी परिवर्तनो में ही न रह जायें। यह बात नही है कि हमारे पेंट या ब्रश-स्ट्रोक या कैनवास मे अगर पिछड़ेपन की छाप है तभी उसमे हमारे वातावरण का परिचय मिलेगा। पर तकनीकी कुशलता की चमक का कोई अर्थ तभी है जब उसमे सिर्फ एक रेखा या रंग की छुअन ही हमे अपने आसपास से अलग न कर दे।

आधुनिक भारतीय चित्रकला के बारे मे बात करते समय यह दिक्कत आती ही है कि उसे देखने वाले और उसमें दिलचस्पी लेने वाले लोग बहुत ज्यादा नही है। वे संख्या में बहुत थोड़े हैं और कुछ बड़े शहरों मे ही ये लोग कभी-कभार गैलरियों मे पेंटिंग के सामने या उस पर बहस करते हुए दिखायी देते हैं। पर अगर ये लोग संख्या में ज्यादा होते, तो क्या इससे हमारे यहाँ की कला पर सचमुच कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता ? जिन समाजों मे आधुनिक चित्रकला के मूल्यों और उसके रूप को एक सामान्य स्वीकृति मिली भी हुई है वहां भी अधिसंख्य लोग कला मे या तो सतही (नकली/फैशनेबुल) रुचि दिखाते हैं या फिर उसके प्रति उदासीन ही नजर आते हैं। हम इस तथ्य को नजरंदाज नही कर सकते हैं कि आधुनिक चित्रकला के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ चित्रकार के अहम् का अत्यधिक विस्तार (दूसरे शब्दो में धनी समाज तथा औद्योगिक विकास तंत्र की जटिलताएं) भी हुआ है। चित्रकला का संसार इस स्थिति मे काफी नियन्त्रित होता रहा है। हम जो देखते है—उस देखने पर इतने अधिक दबाव हैं—सूचनाएं प्राप्त करने के हमारे स्रोत इतने अधिक हैं कि हमारा मस्तिष्क कभी एक 'खाली तख्ती' वाली हालत मे नही होता। जब वह सैद्धान्तिक रूप मे खाली भी दिख रहा होता है, तो भी उस पर कई तरह के दबाव होते हैं। हमे इस बात को ध्यान मे रखना होगा कि आधुनिक चित्रकला की 'इमेज' हमारे यहां (सिर्फ भारत में ही नहीं—तमाम तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों मे) किताबों और अनुकृतियों से यात्रा करती है। अक्सर हमे मूल को बहुत बाद मे देखने का अवसर मिलता है और जब हम मूल को देखते हैं तो काफी चौंकते भी है कि अरे, यह पेंटिंग तो इतनी छोटी थी (आकार में) या कि इसके रंग कुछ दूसरी ही तरह के थे।

यहा हम इस बात की ओर संकेत करना चाहते हैं कि इन अनगिनत चित्रों की बाढ और उनके आक्रमण से बचने का कोई मतलब नही है। हम यह भी समझ सकते हैं कि इस आक्रमण के कितने हानिकारक प्रभाव हैं। पर एक चित्रकार, जो

अपना रास्ता इसी दबाव की स्थिति में निकालना होगा। आधुनिक भारतीय चित्रकारों के बारे में अक्सर कुछ प्रेक्षक एक बहुत ही रहस्यमय किस्म का सुख प्राप्त करते हुए कहते हैं कि अपने यहां के फलां पेंटर का मूल—उसकी कल्पनाशक्ति का स्रोत हमने उस किताब में देख लिया। इसमें कोई शक नहीं कि अनेक चित्रकार शुद्ध नकल भी कर रहे होते हैं (या फिर उनकी निजी समस्याएं लगभग नहीं के बराबर होती हैं : यों इसी तर्क से ये चित्रकार गैर आधुनिक व अप्रासंगिक भी हो जाते हैं) पर आधुनिक भारतीय चित्रकला का आज जो भी व्याकरण बन रहा है अन्त में उसे अपनी ही जमीन पर सफल होना होगा। एक इमेज या रंग या लकीर या ब्रश-स्ट्रोक की सार्विक सम्भावनाओं को आधुनिक चित्रकला ने काफी स्पष्ट किया है (इस कारण से भी वह धीरे-धीरे हमारी सचमुच की भौतिक जिंदगी में आ सकी है: मोंद्रियान की एक अमूर्त सरचना आज एक अदीक्षित प्रेक्षक को भी शायद बहुत अजनबी न लगे) लेकिन इस सार्विकता के बावजूद हमारे आधुनिक चित्रकार को गत्यात्मक रूप में अपने स्वभाव को स्पष्ट करना होगा। एक शान्त और अपेक्षाकृत गैर-आक्रामक रूप में नहीं जैसा कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय कला में हुआ है। दरअसल इस गत्यात्मकता को कोई भी चीज छिपा नहीं सकती है—शैली, स्रोत या माध्यम की तकनीकी चमक इनमें से कुछ भी नहीं। पर यहां भारतीय कला के सन्दर्भ में माध्यम की तकनीकी चमक वाले प्रश्न पर थोड़ा विस्तार में जरूर जाया जा सकता है।

त्रिनाले के आयोजनों में अनेक भारतीय प्रेक्षकों के मन में पश्चिम जर्मनी, जापान आदि देशों की कलाकृतियों को देखते हुए अपने यहां की कल्पनाशक्ति का बौनापन भी शायद महसूस हुआ हो। गौर करने पर यह बौनापन शायद कल्पनाशक्ति का ही न जान पड़े—वह तकनीक का ज्यादा है। कुछ-कुछ इसी तरह से जब हम विदेश के बहुत बढ़िया छपे हुए कैलेंडर या पोस्टर को देखकर विदेश की दाद देते हैं। 'अभी तो हमें वहां पहुंचने में वक्त लगेगा !'

पर यह शायद कला के पक्ष में है कि वह तकनीकी सुविधा और भव्यता पर सीमित अर्थ में ही आश्रित है। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण फिल्म माध्यम है। अमेरिका आदि देशों में बने औसत वृत्तचित्र भी अक्सर सारी तकनीकी उपलब्धियों के लाभ अपने में समेटे हुए होते हैं—यह अलग बात है कि वे कुछ कह पा रहे हैं या नहीं कह पा रहे हैं। कल्पनाशक्ति तकनीकी दबावों से हमेशा निषेधी रूप और दिशा की ओर ही नहीं बढ़ी है—औद्योगिक प्रगति का यह अजीब तर्क है कि तकनीकी भव्यता से अभिव्यक्ति 'कंमोफ्लाज' नहीं हो पाती बल्कि 'संदेश' पहुंचाने (समाजवादी

यथार्थवादी सौंदर्यशास्त्र के अर्थ में ही नहीं) का काम और भी मुश्किल हो जाता है। चित्रकार का एक स्वप्न इस तकनीकी क्षमता को अपनी कल्पनाशक्ति के पक्ष में करना जरूर है पर उसे पाना क्या है ? फोटोग्राफी ने बहुत कुछ ऐसा दे दिया है बल्कि चित्रकला के साथ उसका रूप कुछ इस तरह से प्रतियोगी हो गया है कि कभी-कभी तो चित्रकार की भूमिका एक सरसरी दृष्टि में बहुत साधारण नजर आने लगती है (इसी ने अमूर्त चित्रकला के बारे में यह भ्रम बनाया कि उसमें 'मेहनत' एक मूल्य नहीं रहती जा रही है !)। एक अमेरिकी चित्रकार-आलोचिका दिल्ली में अपने कोनाजों की पारदर्शियां दिखा रही थी। उनमें फोटोग्राफी का मुक्त इस्तेमाल अक्सर यह भ्रम पैदा कर रहा था कि चित्रकार ने उस पर मेहनत की है जबकि पूछने पर पता चला कि उन चित्रों की संपूर्ण कला संयोजन की और परिष्कृत सैद्धांतिक भाषा के साथ उसे जोड़ने की है।

जिस प्रकार की तकनीकी भव्यता की सीमा की हम यहां चर्चा कर रहे हैं, उसे जिन आधुनिक भारतीय चित्रकारों ने बहुत खूबी से स्पष्ट किया है उनमें हिम्मत शाह की हम यहां संक्षिप्त चर्चा करना चाहेंगे। हिम्मत शाह का पिछले दस वर्षों का काम (और यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि वे बहुत व्यवस्थित होकर अपनी प्रदर्शनियां आयोजित नहीं कर पाते) अपने स्वाद और शैली में भारतीयता और पश्चिम के भेद को एक समस्या नहीं रहने देता। उदाहरण के लिए वे जिन रंगों का इस्तेमाल करते हैं वे भारतीय जिंदगी का एक अविभाज्य अंग हैं—हमारी अपनी जिंदगी के वे रंग हैं। हिम्मत शाह रंगों का इस्तेमाल बहुत अपने ढंग से करते हैं—सिल्वर, नीला, गेरुआ या इस तरह के किसी रंग को कैनवास पर बिल्कुल केंद्रित करके एक अजीब तरह की बेचैनी पैदा करते हैं और यह बेचैनी उन रंगों को आधुनिक रूप देती है। आधुनिक पश्चिमी कला के संपूर्ण इतिहास से एक सहज रचनात्मक संबंध उनकी कला में मौजूद है, पर उनकी कला का प्रभाव पश्चिमी कला से आतंकित नहीं दिखता। किसी कलाकार के निजी जीवन की अव्यवस्था उसकी कला को कोई छूट नहीं देती पर यह सही है कि हिम्मत जिस ढंग का काम करते हैं—और जिस तरह के उन्माद में वे काम करते हैं—उसमें अगर क्रम बना रहे तो उनकी कला में हमारे अनेक प्रतिष्ठित चित्रकारों को औसत में बदल देने की सामर्थ्य है।

हिम्मत शाह अकेले चित्रकार नहीं हैं जो आधुनिक भारतीय चित्रकला को उसके वातावरण से जोड़ रहे हैं। गुलाम शेख, परमजीत सिंह, भूपेन खख्खर आदि अनेक ऐसे चित्रकार सक्रिय हैं जो अपने कैनवास को सचमुच अपना बनाने की लड़ाई कर रहे हैं। आधुनिक कला के इतिहास में हमारे यहां जो चर्चित चित्रकार हैं वे हमारे यहां की

कला को मुक्त नहीं करा पाये और वह कला मुक्त आज भी नहीं हो पायी है। यह एक तथ्य है कि आज भी हम आधुनिक भारतीय चित्रकला की एक बड़ी प्रतिनिधि प्रदर्शनी बनाना चाहें तो उसका समग्र रूप बहुत प्रभावशाली नहीं होगा। लेकिन आधुनिक चित्रकला पश्चिम में भी इतने आंदोलनों, वादों और संप्रदायों में से गुजर चुकी है कि उसके सामने अंधेरा है। पीछे रोशनी जरूर है। भारतीय चित्रकार को उसका कुछ ही दशक पहले का अतीत बहुत अधिक सिखाने की स्थिति में नहीं है। यह उसके हित या अहित में जाने वाली बात नहीं है। यह तो सिर्फ उसकी एक ऐतिहासिक स्थिति है।

आधुनिक भारतीय चित्रकार की मन:स्थिति को रेखांकित करने के लिए अंत में हम यहां 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित गुलाम मोहम्मद शेख से एक भेंटवार्ता (1 अक्तूबर' 78) का जिक्र करेंगे जिसमें उन्होंने कलाकार की स्वतंत्रता के संदर्भ में यह कहा है कि राजाश्रय में काम करने वाले भारतीय चित्रकारों की कलाकृतियों को अगर हम गौर से देखें, तो हमें पता चलेगा कि वे अपने संरक्षकों की इच्छाओं को ध्यान में रखकर ही हमेशा पेंट नहीं करते थे। उदाहरण के लिए, अकबर उन चित्रों में सिर्फ एक बादशाह ही नहीं है—कहीं-कहीं वह हमें जंगलों में भटक रहा एक आदमी भी नजर आता है। गुलाम शेख की इस पर टिप्पणी है कि 'आज तो हम एक अधिक उदार वातावरण में पेंट करने की बात करते हैं।' पर विकसित यंत्रविधि के इस समय में हमारे 'संरक्षक' अधिक जटिल, ताकतवर और छिपे हुए हैं। कलाकार उनके लिए काम करता है। इसीलिए आज हमारे यहां जो तंत्र से प्रभावित चित्रकार भरे पड़े हैं उनमें से अधिकांश के सामने कल्पनाशक्ति के नियोजन की कोई समस्या नहीं है। उनके संरक्षक गैलरियों के प्रबंधक तथा विदेशी ग्राहक हैं।

गुलाम शेख के अनुसार हमारे नये चित्रकार पहले के मुकाबले में पेंटिंग को प्रदर्शित करने की या बेचने के लिए बनायी गयी वस्तु के रूप में थोड़ा कम देखते हैं—वे इस बारे में अब अधिक उत्सुक नहीं रह गये हैं कि बाहर क्या हो रहा है—कम से कम इस तरह की ईर्ष्या उनमें कम हो गयी है। वे घर वापस आ गये हैं।

गुलाम शेख जिस बात को रेखांकित कर रहे हैं दरअसल वह हमारे यहां के नये चित्रकार की इच्छा और एक कोशिश ही ज्यादा है। यह सही है कि अगर वह बात इस स्तर पर भी मौजूद है, तो उसका निश्चित महत्त्व है। हमारे यहां अधिकांश कलाकार और कला आंदोलन (?) अपने संरक्षकों का अपने ढंग से इस्तेमाल कर रहे हैं और इस प्रक्रिया में अधिक इस्तेमाल उन्हीं का होता है। दरबारी चित्रकारों की स्वतंत्रता इसलिए भी बची हुई थी चूंकि उनकी दुनिया पर दबाव अधिक नहीं थे। आज का

चित्रकार इसलिए एक अपेक्षाकृत उदार वातावरण में काम करते हुए भी अप्रत्यक्ष नियंत्रण से अत्यधिक चालित दिखता है। हमारे यहां अमूर्त कला के आंदोलन के एक बड़े भाग ने अपने अंतर्राष्ट्रीय स्तर के संरक्षकों की चिंता उनसे आवश्यक रूप में कुछ प्राप्त करने के लिए ही नहीं की बल्कि भारतीय दर्शन पर दबाव डालना भी एक उद्देश्य था—उन्होंने भारतीय समाज में हाकिम की भूमिका ही संभालनी चाही। पेंटिंग की कीमत बढ़ा कर उसकी ताकत बनाने की गुंजाइश अभी हमारे समाज में अगर बहुत अधिक नहीं है तो उसके ऐतिहासिक तथा आर्थिक कारण हैं। किसी कलाकृति की ताकत तब शायद बनती है जब लोग उसे अपना संदर्भ बनायें। उसे याद करें। उसे उद्धृत करें। उसके बारे में सोचें। फिर चाहे वे बदलें या न बदलें।

चित्रों में मूर्त मानव की खोज

●

चिन्मय शेष मेहता

समकालीन कला-चिन्तन के बिखराव से आज सिर्फ तार्किक विवेचन की शुष्कता ही फैल रही है। बहस जितनी आगे बढ़ती है, अंधेरा उतना ही अधिक घना होता जाता है और हम वैचारिक अन्तर्विरोधों के भंवर में फंसते जाते हैं। कला और समाज विषय को लेकर भी हमारी बहस इसी नियति से ग्रस्त है।

'विशुद्ध सृजनात्मकता' की चर्चा आधुनिक कला चिन्तन का महत्वपूर्ण घटक है। हम सृजन के क्षेत्र में पूर्ण मुक्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं। परिवेश की छाया से सृजन के अशुद्ध अथवा निम्न हो जाने का खतरा बढ़ जाता है, बहुत से समकालीन सृजनकारों का ऐसा मानना है। व्यक्तिगत मौलिकता तभी सुरक्षित रह सकती है जब भाषा और कथ्य सामान्य धारा से विच्छिन्न होते जायें, उनका कहना है—आत्मबोध का महत्व सामाजिकता से अधिक होता है। सृजन की अपनी विशिष्ट सत्ता होती है और उसका अन्य किसी सत्ता (आर्थिक-सामाजिक) से कोई सरोकार नहीं होता। वस्तु निरपेक्ष या विशुद्ध अमूर्त कला इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं।

सामाजिक दायित्वों से अलग खड़े चिन्तन के परिणामस्वरूप कला सम्बन्धी हमारा मूल दृष्टिकोण ही बदल गया है। पहले चित्र द्वि-आयामी पटल पर एक सुपरिचित दृश्य संसार विद्यमान रहता था, दृश्य जगत से चित्र की साम्यता बिठायी जाती थी तभी इस चित्र को देखकर प्रकृति, जीवन एवं समूह की छवि मुखरित हो जाती थी, दर्शक सृजनकार के चाक्षुस-बिम्ब से मुग्ध हो जाता था। मनोभावों का ऐसा तादात्म्य दर्शक एवं सृजनकार के बीच पैदा होता था कि सम्पूर्ण प्रक्रिया सामूहिक

अनुभव का-सा रूप ले लेती थी। इसके विपरीत आधुनिक कला 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अमूर्तता एवं वस्तु निरपेक्षता की ओर बढ़ती गई। उसमें से मानवाकृतियां एवं दृश्य चित्रण विलुप्त होता गया। सामान्य दर्शक चित्र के इस नये वातावरण से पूर्णतः अपरिचित रह गया। इस तरह कला का समाज से सम्पर्क टूटता गया, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समाज भी सृजनकारों के प्रति उदासीन होता गया।

'कला' प्रारम्भ से ही दो धाराओं में प्रवाहित होती रही है—लोक कला की धारा जनमानस के बीच बहती रही है तो कला की दूसरी धारा शास्त्रीय-अभिरुचि रखने वाले 'भद्रजनों' के बीच बहती रही है। इस 'शास्त्रीयता' ने कला को कुछ ऐसे मूल्य प्रदान किये हैं कि सामान्य दर्शक की अभिरुचि से कला ऊपर उठ गई है, इस शास्त्रीय कला में इसीलिए संप्रेषणीयता का अभाव है। हालांकि एक स्वस्थ्य संस्कृति के विकास के लिए लोककला जितनी आवश्यक हो सकती है, उतना ही महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय अभिरुचि की कला का उत्थान भी है।

समकालीन समाज में, जहां लोक कला की परम्परा को आघात पहुंच रहा है वहीं उच्चस्तरीय अवांगार्द कला धारा भी सामान्य अभिरुचि से दूर होती जा रही है—एक प्रकार से सांस्कृतिक संकट की ही स्थिति बनती जा रही है। संस्कृति के नाम पर 'शून्यता' का बोध बढ़ता जा रहा है। मात्र 'फिल्म' समस्त सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। फिल्म ने कई अर्थों में सांस्कृतिक चेतना को बहुत हानि पहुंचाई है।

-

अथवा समस्त कला आंदोलन हिमालय की कदराओं में बैठे किसी मुनि की एकात योग साधना से अधिक महत्त्वपूर्ण नही रह जायेंगे। व्यक्ति के विकास में सिर्फ समसामयिक सामाजिकता का ही योगदान नही होता बल्कि ऐतिहासिक-बोध से अर्जित अनुभव भी उतना ही महत्त्व का होता है। फिर आत्मबोध अथवा आत्मोत्थान की ओर बढने वाला चित्रकार भी 'दूसरे व्यक्ति' की पीडा से विमुख कैसे हो सकता है ? सृजन में आसपास के वातावरण एव 'दूसरे व्यक्ति' के अस्तित्व को स्वीकारना ही होगा, कला एव समाज के बीच तभी सामंजस्य स्थापित हो सकेगा।

आधुनिक युग के प्रति यन्त्रीकरण ने हमें—'एकांत' की तरफ धकेल दिया है। हमे समूह एवं सामुदायिक जीवन के रस से विहीन कर दिया है। समकालीन साहित्य मे भी यह सत्रास प्रतिध्वनित हो रहा है। कला मनुष्य के लिए सम्पूर्ण जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करती है और सम्पूर्णता का यह बोध समाज के सर्वांगीण उत्थान मे ही हो सकता है, एकाकीपन मे नही।

परंपरा-संपृक्त भारतीय चित्रकला

●

मोहनलाल गुप्ता

कलाकारों के एक वर्ग की आज यह आम शिकायत है कि जनता का आदमी उनके काम में दिलचस्पी नहीं लेता। किन्तु दूसरी तरफ यह भी उतना ही सत्य है कि ये कलाकार अपने देश की सांस्कृतिक अस्मिता, उसके जटिल अवयवों व उसकी सहज गत्यात्मकता से अनजान हैं। कला के क्षेत्र में विदेशों से आयायित आधुनिकता को यहाँ का आमजन समझ नहीं पाता, क्योंकि जिस परम्परा में वह हजारों वर्ष तक जिया है; उसके कला संदर्भों का स्रोत भी वही है। इस परम्परा से विच्छिन्न कला व उससे जुड़ी तथाकथित आधुनिकता उसकी समझ से परे की बातें हैं।

इन्हीं कलाकारों का फिर दूसरी तरफ यह पूर्वाग्रह कि उनकी कला के बारे में जरूरी नहीं कि मामूली आदमी जाने ही; एक उलझी हुई स्थिति को जन्म देता है। "कला-कला के लिए" सिद्धान्त को लेकर कलाकार यदि स्वयं एकांगी होना चाहता है तो फिर जनता का इसमें क्या दोष है? साधारण आदमी की समस्याओं, उसकी आशा-आकांक्षाओं को जब तक कलाकार अपनी कला में प्रस्तुत नहीं करेगा तो आमजन अपनी सहज बुद्धि से उसके साथ जाहिर है तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकेगा।

विदेशी चित्रकारों की कृतियों को भी इतना मान-सम्मान तब मिला जब उन्होंने अपने देश-काल की स्थितियों को अपने चित्रों में उतारा। युद्ध की बीभीषिका, बेकारी, भुखमरी, भोथरी होती मानवीय संवेदना व यन्त्रीकरण के खतरे को समाज के करोड़ों

मामूली आदमियों की तरह ही वहां के कलाकारों ने झेला और उसे अपने चित्रों में परोक्ष-अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त किया। अपनी संवेदनशील जनता का सम्मान उन्हें तभी मिल सका।

हमारे यहाँ के चित्रकार—कुछेक को छोड़कर—आधुनिकता के नाम पर अति-अमूर्त चित्रों का सृजन करते हैं; जिनमें नवीनता लाने के लिए बेबात ही आकृतियों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। आधुनिकता के नाम पर अनेक कलाकार वेदी महल, तांत्रिक फॉर्म्स या पुराने फार्म्स के तोड़-मरोड़ कर नये रूप तैयार कर रहे हैं, जो आज के आदमी के संघर्ष, उसकी टूटन को कह पाने में प्रायः ही सफल नहीं हो पाते। न ही इस तथाकथित आधुनिक कला में अपनी माटी की गंध, अपनी परम्पराओं के बीज बाकी रह गये हैं। इस दुखद स्थिति का सिद्दत से अहसास तब होता है जब दूसरे देशों की कलाकृतियों के साथ रखे भारतीय कला के नमूने भी हमें देखने को मिलते हैं और उनमें से यह भेद कर पाना मुश्किल हो जाता है कि भारतीय कला के वे नमूने कौनसे हैं ?

यह भारतीयता ही यहाँ के आमजन का दर्शन है, उसकी सांस्कृतिक अस्मिता है। कोई कला यदि समाज निरपेक्ष रही तो वह आज नहीं तो कल अपने ही घेरे में बन्द होकर दम तोड़ देगी, जबकि व्यापक जन सरोकारों से जुड़ी कला हमेशा ही जीवित रहेगी; क्योंकि वह उस समाज के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है।

संगीत

भारतीय संगीत : परंपरा और प्रभाव

●

सुरेखा सिन्हा

मनुष्य का सूक्ष्म जीवन सत्य, शिव और सुंदर अर्थात् ज्ञान, भावना व क्रिया पर आधारित माना गया है। ज्ञान का संबंध सत् से, क्रिया का चित्त से व भावना का संबंध आनंद से है। मानव जीवन से संबंधित विभिन्न विषय इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों से प्रेरित हैं। ज्ञान की प्रवृत्ति से विज्ञान व दर्शन, क्रिया की प्रवृत्ति से धर्म व व्यवसाय तथा भावना की प्रवृत्ति से संगीत तथा अन्य कलाओं का जन्म हुआ है।

पाश्चात्य मनोविज्ञानी फ्रायड ने एक भिन्न धरातल पर कला को "अतृप्त वासनाओं की तृप्ति" कहा है। फ्रायड की कला-परिभाषा का खंडन करते हुए युंग ने लिखा है कि "कला सृजन का कारण दबी हुई भावनाएं मात्र नहीं हैं। दबी हुई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को ही हम यदि कला कहें तो फिर कला व मानसिक रोगों में कोई फर्क न रह जायेगा।"

भारतीय विचारकों ने कला को समाज की आत्म शक्ति का साधन माना है। कला और नैतिकता में यहां कोई अंतर्विरोध नहीं है, बल्कि नैतिकता को भारतीय कला-चिंतन में कला का आवश्यक अंग माना गया है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने संपूर्ण ब्रह्मांड को 'संगीतमय' माना है। संगीत में मन को बांधने की अमोघ शक्ति है, यही वजह है कि संगीत का प्रभाव सभी चेतन प्राणियों व जड़ पदार्थों पर पड़ता है।"

गायन, वादन व नृत्य के सम्मिश्रण से उत्पन्न संगीत एक सजीव कला है। सांगीतिक स्वरों की सार्वभौम अनुभूति के सामर्थ्य के कारण ही संगीत को "विश्व की

भाषा" कहा गया है। संगीत मानव के अंतर्ज्ञान को उत्तेजित व प्रोत्साहित करता है, उसमें नवीन एवं श्रेष्ठ चेतना जाग्रत करना है। डा. सम्पूर्णानंद ने संगीत के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है "संगीत शब्द से उठकर स्वरों से काम लेता है। शब्दों का प्रयोग होता भी है तो बहुत थोड़ा। ध्यान वहां शब्दों पर कम और स्वर सचरण पर अधिक रहता है। श्रेष्ठ सगीत, वह चाहे गेय हो या वाद्य—केवल स्वरों से काम लेता है। स्वरों की भाषा सार्वभौम है—अच्छा संगीत मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों तक को आकर्षित करता है।"

संगीत का आधार स्वर है। स्वर का मूल नाद् अथवा ध्वनि है। अभिव्यक्ति की क्षमता के साथ ही मानव में संगीत के स्वरों का जन्म भी हुआ। मानव के विभिन्न भावों से उत्पन्न कतिपय स्वर स्वतः ही मधुर होते हैं। इन्हीं मधुर ध्वनियों के आरोह-अवरोह का तारतम्य—प्रभावकारी विशिष्ट स्वर समुदाय – विशिष्ट राग को जन्म देता है। सांगीतिक स्वरों के प्रवाह में मानव तन्मय हो उठता है और जड वृत्तियों को प्रवाहशील ध्वनि के बल पर छोड़ने को बाध्य हो जाता है। संगीत के स्वर एवं लय की नियमित गति मानव हृदय को द्रवित कर देती है। संगीत के प्रत्येक स्वर का अपना अलग व्यक्तित्व है, जिसके कारण उसका प्रभाव भी भिन्न होता है।

भारतीय दर्शन में संगीत को दैवीकला माना गया है। संगीत का जन्म भी, कहा जाता है, वेदों के निर्माता ब्रह्मा द्वारा हुआ। इसीलिए संगीत को यहां मानव के मोक्ष से जोडकर देखा गया है :

"वीणा वादन तत्वज्ञ श्रुति जाति विशारदः
ताल ज्ञश्चश्चया प्रयासेन मोक्ष मार्गंचगच्छति"

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने सप्त स्वरों के स्वभाव के बारे में विस्तार से वर्णन किया है। सांगीतिक स्वरों और मानवीय भावों का यह अन्योन्याश्रित संबंध सिद्ध करता है कि संगीत मानव पर और प्रकारांतर से समूचे समाज पर कितना गहरा प्रभाव डालता है, मानव समाज में उसकी जड़ें कितनी गहरी हैं !

ऊपर वर्णित सांगीतिक स्वरों को आधार बनाकर ही राग-रागनियों की रचना हुई। भारतीय संगीत में राग शब्द का अत्यंत गूढ़ अर्थ है :

"योऽयम् ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषित :
रंजको जन चित्तानाम्, सराग.कथितोबुध :"

राग ध्वनि की वह विशिष्ट रचना है जो स्वर-वर्णों से विभूषित होती है तथा सौंदर्य व जनचित्त का रंजन जिसका प्रधान तत्त्व है। यहां ध्यान देने की बात है कि मात्र स्वर-वर्णों से ही राग नहीं बनता बल्कि इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है "रंजको जन चित्तानाम्।" स्वर-वर्ण तो यहां साधन मात्र हैं, साध्य है रंजकता। यह रंजकता ही संगीत का सर्वोपरि गुण है। मनुष्य यदि हर स्थिति में प्रसन्न रहता है तो कठिन से कठिन समय में भी वह धैर्य नहीं खोता और जीवन-बाधाओं को सहजता से पार कर जाता है।

संगीत का हर राग विशिष्ट भावनाओं से संबंधित है, क्योंकि राग की सृष्टि ही विशिष्ट स्वरों के मेल से होती है और इन विशिष्ट स्वरों में विशिष्ट भावों को प्रकट करने की शक्ति निहित है। जिस प्रकार वाणी के विभिन्न उच्चारणों से विभिन्न भाव प्रकट होते हैं, संगीत में भी विभिन्न स्वरों के गायन द्वारा इसी प्रकार विभिन्न भाव प्रकट होते हैं। भाव-विविध रसोद्रेक का सहज प्रभाव प्राणीमात्र पर पड़ना अवश्यभावी है। वैज्ञानिकों की मान्यता भी है कि बाह्य स्वर लहरी अंतर में निहित रसात्मक व्यसन को उत्तेजित करने में सक्षम होती है। इसीलिए संगीत का श्रेष्ठ ज्ञाता स्वरों के आरोह-अवरोह के माध्यम से यथा समय अभिष्ट रस-चेतना श्रोता में जागृत कर सकता है।

गहन समाज संपृक्तता के कारण संगीत समाज का प्रतिबिंब इतिहास भी है। मानव की आदिम अवस्था से ही संगीत उसके साथ रहा है। मानव ने अपनी तमाम आंतरिक अनुभूतियों—हर्ष, विषाद, रुदन, क्रंदन आदि को संगीत में अभिव्यक्त कर खुद को भाव ज्वारों से मुक्त किया है। अरण्यवासी से लेकर सुसंस्कृत समाज तक संगीत और मानव साथ-साथ चले हैं। प्राचीन गुफाओं में चित्रित लयात्मक चित्र मानव समाज में संगीत के महत्त्व को उद्घाटित करते हैं। वैदिक काल में भी ऋषियों ने नाद की साधना के बल पर अनेक दैवी शक्तियां प्राप्त कर समाज को ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण किया है।

संगीत की इसी शक्ति को पहचान कर हर युग में संत-महात्माओं ने मानव समाज की शांति एवं सद्गति के लिए उपदेशों एवं प्रवचन का माध्यम संगीत को ही बनाया। चैतन्य महाप्रभु, सूरदास, तुलसीदास, कबीर, जयदेव, मीरा आदि ने भजन-कीर्तन द्वारा ही समाज को नैतिकता का पाठ सिखाया। समस्त भारत में नव चेतना का विस्तार संगीत के तुमुलनाद से हुआ। समाज के विभिन्न आयोजनों, रीति-रिवाजों, पर्वों से जुड़कर संगीत मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके जीवन का अभिन्न अंग बन

गया। यहा के लोक जीवन मे तो संगीत प्रतिदिन का जैसे अनिवार्य हिस्सा ही बन गया है।

संगीत का गुण है मानव को उच्चतम भावनुभूति के स्तर पर ले जाना, जिस स्तर को वह अपने दैनिक कार्यों मे नही प्राप्त कर सकता। स्वरो एवं लय का उतार-चढ़ाव मानव हृदय किसी उपदेश की बनिस्पत अधिक सहजता से गृहण कर लेता है। इसीलिए किसी उपदेश या विचार की अभिव्यक्ति भी संगीत का स्पर्श पाकर अधिक सशक्त हो जाती है। यह कार्य हालाकि द्रुत गति का विलासी संगीत नहीं कर सकता, विलंबित गति का संगीत ही इसमे सहायक होता है। जब तक मानव मे स्वर शक्ति विद्यमान है, संगीत हमेशा उसके 'मानवीय तत्त्व' को बचाये रखने का आलंबन बना रहेगा।

ग्रादिम लय की तलाश

●

संजीव मिश्र

कला का मूल स्वरूप लय है। कलाकार अपने अंतर में उद्भूत लय को अपने रचना-माध्यम मे प्रस्तुत करता है। रचना मे प्रस्तुत लय से अपनी आतरिक लय का सादृश्य अनुभव करके ही कोई व्यक्ति रचना का आस्वाद करता है। सवेदनशील आस्वादक की आंतरिक लय दूसरे अन्य व्यक्तियों से अधिक जागृत होती है। अच्छी रचना की पहली पहचान है उसमे अतर्निहित लय की तीव्रता। रचना यदि अपेक्षाकृत कम सवेदनशील व्यक्ति के भीतर भी कोई लय जगाने में सक्षम हो अर्थात् उसका प्रभाव तीव्र हो तो वह निश्चित रूप से एक अच्छी रचना कही जायेगी।

रचनाकार के भीतर की यह लय अपने स्वरूप मे उसके अनुभव, परिवेश और संवेदनशीलता से प्रभावित होती है, और उन्ही प्रभावों के अंतर्गत रचना की सृष्टि होती है। रचना में प्रस्तुत बिंब, ध्वनि और विचारो का स्वरूप भी उसी तरह निर्धारित होता है, और रचना का स्वभाव भी इसी प्रभाव के तहत निश्चित होता है।

विभिन्न रचना-माध्यम अपने तरीके से कला की प्रस्तुति होते हैं। चित्रकार चाक्षुप बिंबों में रंगों और आकृतियों द्वारा अपनी इस आतरिक लय को अभिव्यक्त करता है। साहित्यकार शब्दो को चुनता है और संगीतकार स्वरो और ध्वनियों को। साहित्यकार का माध्यम–शब्द–स्वयं किसी सत्ता मे युक्त न होकर एक प्रतीक मात्र है, अत: उसके द्वारा अन्य माध्यमो का अतिक्रमण संभव होता है। शब्द के द्वारा ध्वनि और दृश्य दोनो ही रचे जा सकते है अत: शब्द मे सृजनधर्मिता के आयाम सर्वाधिक होते है। किंतु साथ ही शब्द को ग्रहण करने के लिए पाठक अथवा श्रोता मे एक विशेष संस्कार की या कम से कम भाषा के परिचय की अपेक्षा होती है जो चित्ररचना के दर्शक या

संगीत के श्रोता को नहीं होती। चित्रकला में भी दृश्यों के संदर्भ जरूरी हो जाते हैं जबकि संगीत कभी-कभी नितांत नये श्रोता को भी उतनी ही तीव्रता से प्रभावित करने में सक्षम होता है जितना किसी सिद्धहस्त संगीतज्ञ को। संगीत का प्रभाव मानव के अतिरिक्त पशु-पक्षियों पर भी पड़ता है; जो इस कला माध्यम के अधिक तीव्र होने का एक लक्षण है। संगीत में यह तीव्रता इसलिए होती है क्योंकि यह कला के मूल स्वरूप को सर्वाधिक निकटता से और अकृत्रिम ढंग से प्रस्तुत करता है। कलाकार की आंतरिक लय जब संगीत में अभिव्यक्त होती है तो श्रोता को अपने भीतर की लय से उसका सादृश्य पहचानने में सबसे कम प्रयास करना पड़ता है। संगीत का आस्वाद इस तरह सबसे सहज और प्रभावी होता है।

संगीत की भारतीय परंपरा के मूल में जो दर्शन है, वह है—परम और आदि लय की प्राप्ति का। यह दर्शन स्वयं को लय करने का दर्शन है। भारतीय संगीत का लक्ष्य अपनी आंतरिक लय को परम लय में निहित करने का लक्ष्य है। अतः भारतीय संगीत "अभ्यास" न होकर "साधना" होता है।

'साधना' के चूंकि अपने निश्चित नियम, अनुशासन और दिशा होती है, भारतीय संगीत के संस्कार में नियम का महत्त्व इसीलिए है। यहां संगीत-मात्र का लक्ष्य चूंकि अभिव्यक्ति या मनोरंजन के साथ-साथ 'परम लय' की साधना होता है, अतः भारतीय संगीतकार स्वयं में एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होते हुए और अपनी साधना की एक अलग पहचान कायम करते हुए भी, मूल रूप से संगीत की उसी निश्चित धारा में—एक सतत परंपरा में—जुड़ा रहता है। संगीतकार की मौलिकता यहां उसके काम की प्रकृति में नहीं बल्कि उसके प्रयास में होती है, क्योंकि इस परंपरा में कार्य सबका एक ही है—लय के शुद्धतम स्वरूपों की साधना।

इसके विपरीत, पाश्चात्य परंपरा में हम पायेंगे कि वहां संगीत किसी विशेष लय की खोज न होकर रचनाकार की आंतरिक लय के स्वरूपों की अभिव्यक्ति होता है। अतः पाश्चात्य संगीत में कलाकार के साथ-साथ संगीत का स्वरूप भी बदलता रहता है। उसमें रचनाकार की अस्मिता अपने कार्य में स्वतन्त्र रूप से व्यक्त होती है और रचनाकार ही अपने संगीत के नियमों का नियन्ता होता है, जो उसके पूर्ववर्ती संगीत से किसी रूप में जुड़े हों, यह आवश्यक नहीं। यहां रचनाकार की आन्तरिक लय उसके समाज, परिवेश, स्थिति और अनुभवों से प्रभावित होती है, उसकी संवेदनशीलता उसकी लय के स्वरूप-निर्धारण की कारक होती है। इसीलिए समय और स्थान के साथ-साथ संगीत के स्वरूप में परिवर्तन को लक्षित किया जा सकता है। जबकि हिंदुस्तानी संगीत में सारे

परिवेशजन्य दबावों के रहते एक विशेष दिशा में परम लय की साधना के प्रयास होते हैं, अतः परंपरा में विकृतियां यहाँ अपेक्षाकृत नगण्य हैं व संगीत का शुद्ध स्वरूप निश्चित है।

'आधुनिक जीवन' और महानगरीय यातनाओं के विरुद्ध मुक्त और अराजक अभिव्यक्ति वाली पाश्चात्य लयों का लोकप्रिय होना उनके तत्काल चमत्कारक होने की वजह से स्वाभाविक है। लेकिन इतना ही स्वाभाविक है उनकी जीवन अवधि का कम होना; क्योंकि प्रतिक्रियापरक संगीत प्रस्त्रवार की तरह होता है—नई अप-टू-डेट प्रति पुराने को बेकार और प्रभावहीन बना देती है। इसीलिए यह एक परंपरा में अधिक 'फैशन'' का स्वरूप प्राप्त कर चुका है। भारतीय संगीत इसके विपरीत सतत लय की साधना है जो चिरन्तन है। अतः वह स्थाई प्रभाव से युक्त है। किसी गायक विशेष की आवाज या संगीतकार की धुन को विस्मृत किया जा सकता है, लेकिन 'राग' का शुद्ध और मूल स्वरूप अविस्मरणीय होता है—व्यक्ति के लिए ही नहीं अपितु संपूर्ण मानवजाति के लिए।

शायद इसीलिए विज्ञान जब संगीत को देखता है तो अपने विश्लेषण के लिए उसे प्रचलित लोकप्रिय संगीत की उसकी अस्थिरता और अराजकता के कारण नकारना पड़ता है और परंपरागत हिन्दुस्तानी संगीत में प्राप्त शुद्ध लय के स्वरूपों का अध्ययन करना होता है, क्योंकि उसी शुद्ध 'लय' का संवेदन कला का मूल है—सतत और सार्वकालिक है—सर्वदा और सर्वत्र प्रभावी है।

शुद्ध लय का यह सतत, सर्वत्र प्रभावी स्वरूप ही व्यक्ति को कलाकार या आस्वादक के रूप में विराट जन से जोड़ता है। उसे एक इकाई के रूप में प्रभावित करते हुए व्यक्ति को संवेदन में लय करता है। यह संवेदन शुभ तथा सत्य के साथ सामंजस्य तथा अशुभ व मिथ्या के साथ विरोध की स्वाभाविक प्रवृत्ति वाला होता है।

इस प्रकार संगीत मानवीय संवेदना को व्यापकता देकर उसे महत्ता की ओर प्रेरित करता है और उसकी हीन मनोवृत्तियों के विरोध का प्रेरक बनता है। एक विराट लय के संवेदन से जुड़कर व्यक्ति अपने परिवेश की असंगतियों को न केवल तीव्रता से अनुभव कर सकता है बल्कि उनके विरोध में खड़ा होने की शक्ति भी प्राप्त करता है।

—